विषय-सूची

पृष्ठ

प्रथम सोपानः—

द्वितीय सोपानः—

पृष्ठ

तृतीय सोपानः—

मुक्ति सोपान ।

प्रथम सोपान

हृदयेश्वर ! चारों ओर से हृदय पवित्र करो ॥

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वं ओषधिभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥

ऋ० । मं० २ । सू० १ । मं० १ ।

संसार की ठोकरों से पीड़ित मनुष्य, जीवनरूपी मार्ग का पथिक, व्याकुल होकर श्रम दूर करने के लिए मार्ग के मध्य में ठहर गया है। खड़ा हो नहीं सकता, बैठता है तो आराम नहीं, लेटता है तो चैन नहीं। अन्दर से ऐसी ज्वाला भभक २ कर उठती है कि दम लेने नहीं देती। पथिक फिर चल देता है। आंखें फिर रूप के अन्दर खिंची चली जाती हैं, कान फिर शब्दों के दास बन रहे हैं, पग २ पर फिर ठोकर लग रही है। पथिक की बड़ी दीन, शोचनीय दशा

है। हां, इस नरक-धाम से किस प्रकार छुटकारा हो? नगर को छोड़ कर ग्राम का आश्रय लिया, ग्राम को छोड़ कर जंगल की राह ली; किन्तु क्या दग्ध हृदय शान्त हुआ? अन्दर से दुर्गन्ध की आंधी सी उठ रही है और तड़फा रहा है। अन्दर शान्ति मिलते न देखकर फिर वहिर्मुख होता है। वहां अनगिनत पथिक चले जाते दिखाई देते हैं। कोई कांख रहा है, कोई लकड़ी के सहारे चल रहा है, कोई चिन्ता में निमग्न जा रहा है; चेहरे अपने से भी ज्यादह पीले पड़े हुए देखता है। कुछ समय के लिए शान्ति सी प्रतीत होती है। सामूहिक दुःख भी, दुखी से दुखी आत्मा को एक पल के लिए तो शान्त कर ही देता है। इसी प्रकार की शान्ति इस पथिक के हृदय में होती है।

अब तमोगुण का पूरा राज्य हो गया, रज का चिन्ह भी बाकी नहीं रहा। जैसे कीड़े दुर्गन्ध में मस्त रहते हैं उसी प्रकार की मस्ती पथिक में भी आ गई। किन्तु अभी तक मरा नहीं सिसक रहा है, हाथ पैर फिर भी हिल रहे हैं, कुछ जान बाकी है। कान अभी बहरे नहीं हुए। अकस्मात् एक चमत्कार सा दिखाई देता है। आंखें पूरी खोलता है तो सामने दिव्य, शान्त मूर्त्ति खड़ी है। वह चन्द्र समान शीतल कान्ति, दग्ध हृदय को एक पल में शान्त कर देती है। पथिक उठकर चरणों में सिर नवाता है और महात्मा करुण रस से सने स्वर में कहते हैं।

"हे ज्ञान के भण्डार! सर्व प्रकाशों से तुम, वेगवान् वायु से तुम, जलों से तुम, पर्वतों के शिखरों से तुम, जंगलों से तुम, औषधियों से तुम—हे मनुष्यों के पालक! तुम मनुष्यों में पवित्रता उत्पन्न करते हो!"

अमृत का पान करता २ पथिक गाढ़ निद्रा के आनन्द में मग्न हो जाता है। श्रम रहित होकर जब आँखें खोलता है तो महात्मा का कुछ पता नहीं, किन्तु उसके हृदय में कुछ उदासीनता नहीं आती। महात्मा का भौतिक शरीर सामने न देखकर भी उनके आत्मा को अन्तःकरण से अनुभव करता है। वही प्रकाशमय रूप जो हृदय के अन्दर काम की भट्टी जला देते थे आंखों और अन्तःकरण के मलों को दूर कर रहे हैं। जिस सुन्दर रूप में नरक का दृश्य दीखता था उसमें अब दैवीय सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि उसमें जगन्माता का प्रकाश-स्वरूप दीख रहा है। जिस शब्द की आंधी से हृदय में हलचल मच रही थी उसमें उसी जगज्जननी का संशोधक वेग प्रतीत हो रहा है। जिस रस के दासत्व में शरीर और मन को नष्ट कर बैठे थे उसकी पवित्र धारा अन्दर से सब मलों को दूर कर रही है। जो पर्वत-शिखर भोग के लिए उचित स्थान समझे जाकर मद्य, मांस तथा व्यभिचार के प्रलोभनों में फंसा, जीवित मनुष्यों को मुर्दा बना रहे थे वह अब अपनी स्वच्छ शोभा से पापकर्मों से घृणा दिला कर अपनी स्वच्छ वायु की गोद में लोरियां दे रहे हैं। जिन जंगलों में हिंसक पशुओं के घोरनाद हृदयों को दहलाते थे, उनके एक २ पत्ते से प्रेम वर्षा की धारा बरस रही है। जिन औषधियों को सड़ा कर मनुष्य पागल हो रहे थे, उनकी सुगन्ध नासिकाओं को आल्हादित कर रही है।

कैसा आश्चर्यजनक भेद? क्या था और क्या हो गया? जीवन यात्री के पथिक! अपने पथ प्रदर्शक को भूल कर तूने अपनी कैसी दुर्दशा करली? अभी संभलने का समय

है। नहीं २, संभलने का तो सदैव समय है। हम अपनी कुटिलता से कितनी बार उस प्रेम, उस पवित्रता, उस प्रकाश के स्रोत से अलग होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु क्या इतनी ही बार हमारे कुटिलता से खड़े किए हुए बन्धन को छिन्न भिन्न करके वह अमृत का स्रोत हमें आनन्दित नहीं करता रहा? पथिक! निराश मत हो। शुद्ध स्वरूप प्रकाशमय पिता, संसार की एक २ घटना में शुद्धि का संचार कर रहे हैं। चाहे हम उन्हें छोड़ क्यों न दें, परन्तु वह हमें कभी नहीं त्यागते। तब भय को त्याग कर उसी की प्रेम भरी गोद में क्यों न चलें?

अपने चेतन स्वरूप को मत भूलो।

ओ३म्। न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ अपां प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥ ऋ० मं० १ सू० १६४। मं० ३७। ३८॥

"ठीक जैसा हूं वैसा नहीं जानता कि यह मैं हूं, (किंतु) विचार से ठीक बंधा हुआ (जब) अन्तर्हित हो विचारता हूं (तब पता लगता है कि) जब पहिले प्रकाशित हुए पंच भूत मुझ जीवात्मा को प्राप्त हुए, उसके पीछे ही मैं सत्यज्ञान और (उस सत्यज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने वाली) इस वाणीरूपी भाग को प्राप्त होता हूं। ३७।

मैं क्या हूं? यह प्रश्न सृष्टि के आदि काल में जैसे आकाश में गूंज उठा था वैसा ही आज भी वायुमण्डल में भरपूर हो रहा है। सब कुछ मेरे लिए ही है, मैं सर्वोपरि हूं, मैं ही सृष्टि का स्वामी हूं। इस प्रकार की अन्धी लहरें किस हृदय के अन्दर नहीं उठ चुकीं? किन्तु क्या उस लहर में बहे जाते हुए कभी यह भी विचार किया है कि मैं वास्तव में क्या हूं? जब यह विचार उत्पन्न होता है तभी तो अंदर की आंखों के पट खुलते हैं और मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार बल से फेंकी हुई लहरें सामने से टक्कर लगने पर एक दम पीछे हटकर गिर पड़ती हैं, वैसे ही

मनुष्य को इस विचार रूपी लहर की एक प्रबल टक्कर लगती है । इतिहास में प्रसिद्ध आंग्ल राजा की तरह जब वह उन्मत्त हो कर जल वायु तक को शासन की धमकी देने लगता है तब इन दैवी शक्तियों से पटखनी खाकर कहींका कहीं जा गिरता है। अब न वह ऊर्ध्वारोहण है, और न आकाश की सैर, अब पाताल की सुधि लेने जा रहा है। हैं! कहां चला गया? कहां तेज और कहां मैं? मिट्टी का जब हूं तब मिट्टी ही में क्यों न आनंद ढूंढूं?

पंच-भूतों का शरीर प्राप्त करके ही तो मैं मन और वाणी का स्वामी बना। तब यही मेरे स्वामी हैं। इनका हो रहूंगा तो आनंद मिलेगा। यह आकाश में उड़ना अब दूर हो गया। मिट्टी में लथपथ होकर मिट्टी हो बन गया। जब भौतिक जगत को सर्वथा स्वप्नवत् जानता था, जब अपने आपको ही सर्वोपरि समझता था तब एक प्रकार का आल्हाद था; तब कोई बलात् नीचे तो नहीं धकेल रहा था। किंतु अब तो बोझ के मारे दब रहा है। उठ सकता नहीं, अपने आपको जड़ का बना समझ कर चेतनता को जबाब दे बैठा है। देखते हुए भी नहीं देखता है, सुनते हुए भी नहीं सुनता है: जीते हुए अपने आपको धोखा दे बैठा है। अपने आप को भौतिक समझता हुआ जिधर भौतिक भोग ले जाते हैं उधर ही चल देता है। अन्दर वाला अपने स्वरूप को कभी २ समझने लगता है, उसे चेतनता का भ्रम सा होने लगता है, परन्तु भोग रूपी जादू की छड़ी फिर सिर पर घूम जाती है, और वह उसी के इशारे पर उल्टा सीधा होता हुआ विविध प्रकार की बोलियां बोलने लगता है। हा! मरणधर्मा शरीर के साथ मिल कर अमर की कैसी शोचनीय दशा हो गई है? ऐसे विकट समय

में भगवती श्रुति मधुर स्वर से कैसा शांति दायक उपदेश देती है। "अन्नादि भोग पदार्थों से उल्टा सीधा होता हुआ मरण धर्म रहित जीवात्मा, मरण धर्म सहित शरीरादि के साथ एक स्थान वाला हो रहा है। इन दोनों के मिलाप का ही परिणाम गति और अनेक प्रकार की क्रिया करना है। एक (इस रहस्य) को निरन्तर जानते और दूसरे नहीं जानते हैं।"

मुर्दा क्या जान सकता है ? सजीव मनुष्य ही कुछ जान सकता है। अविद्वान उड़ेगा तो उड़ता ही रहेगा और यदि गिरेगा तो कीचड़ में लथपथ हो कर सड़ांद का कीड़ा हो जायगा। किंतु विद्वान् जानता है कि वह क्या है। वह अपने स्वरूप को पहचानता है। वह जानता है कि पंच भौतिक शरीर रूपी साधन को लेकर ही वह इस जगत् में अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिये आया है किन्तु साथ ही वह भली प्रकार अनुभव करता है कि वह जड़ नहीं है। प्रकृति के साथ जिस प्रकार परम पुरुष का मेल सनातन है उसी प्रकार जीवात्मा का सम्बन्ध भी प्राकृतिक जगत् के साथ सदा रहता है। इस लिये प्रकृति को सर्वथा भुलाकर वह अपने स्वरूप को ही भूल जाता है जिस का परिणाम दुःख होता है। भौतिक शरीर रखते हुए जिन भूले भटकों ने इन्द्रियों को भोगों से सर्वथा जुदा रखा उन्होंने ठोकर खाई। रुकावट सामने आने पर जब उनकी इच्छाओं को पलटा मिला तो वे दूसरी सीमा पर पहुंच कर नियमों के ही दास हो गये। उन्हों ने सर्वथा भुला दिया कि वह अमर हैं और आत्मा हैं। इसी लिये श्रुति ने स्थान २ पर समता की अवस्था स्थिर करने का उपदेश दिया है। वेद का उपदेश सर्व काल में स्मरण रख

ने योग्य है। भौतिक शरीर को भौतिक भोजन की जितनी आवश्यकता है उससे बढ़करकर मानसिक शरीरको आत्मिक भोजन की आवश्यकता है। इस लिये, हे आत्मा के स्वामी और ज्ञान के भण्डारी! अपने निज रूप को हम प्रकाशहीन दीनों के लिये प्रकाशित करो जिस से हम आपके प्रकाश रूपी दर्पण में अपने स्वरूप को देख कर उसकी वास्तविक उन्नति का प्रयत्न करते रहें।

श्रद्धा ही तरन तारन है ।

ओ३म् । कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते भगवान् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥
(साम प्र० ३। अर्द्ध २।३।८)

"हे सबके निवास स्थान, सबके स्वामी परमात्मन्! उसको कौन मरण धर्मा (मनुष्य) ग्रहण कर सकता है? हे सर्वपूज्य! तेरा ज्ञानी पुरुष ही (ऊपर उठकर) द्युलोक में श्रद्धा द्वारा प्राण में जीवन डालता है।"

यह और वह दोनों का ही मेल नैतिक जीवन में अनुभव होना है। संसार को स्वप्नवत् समझने वाले मनमाने ब्रह्मज्ञानी को भी शारीरिक तथा मानसिक क्लेश, झटका देकर जगा देते हैं। तब पता लगता है कि यह और है और वह और। यह शरीर परिवर्त्तनशील, नाशवान् और वह एक रस, अनादि, अनन्त। आकाश और पाताल का अन्तर है। परन्तु वह इन आंखों से दिखाई नहीं देता, इन कानों से सुनाई नहीं देता, इन इन्द्रियों का ग्राह्य नहीं और ग्राह्य हो भी कैसे सकता है? जो इन्द्रियों का विषय न हो, जो मन के वश में न आने वाला हो, जो बुद्धि से भी परे हो, जो सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म हो, उसे कौन मरणधर्मा प्राणी अपनी परिमित बुद्धि की सीमा में बांध सकता है?

तब विवश, तपहीन, गिरा हुआ मनुष्य और भी नीचे गिर जाता है। अपनी निर्बलताओं का एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर आश्रय का अभाव देखकर उसे चारों ओर अन्धकार प्रतीत होता है। हाय प्रकाश! हाय प्रकाश! यह

आर्त्तनाद आकाश में गूंजने लगता है । ऐसी अवस्था में शायद ही कोई विरला तपस्वी हो, जिसका सिर घूमने न लग जाय । एक ओर अन्तःकरण में अपनी निर्बलता, अपनी निस्सहाय अवस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान, और दूसरी ओर उस निर्बलता को दूर करने वाले की आवश्यकता का अनुभव, परन्तु प्रत्यक्ष में उसका अभाव सा । आंखें चौंधिया जाती हैं, कान बहरे हो जाते हैं, बुद्धि चकरा जाती है; तब व्याकुल जीवात्मा उस आशा के प्रकाश की रेखा को भी भुलाने का प्रयत्न करता है जो प्रकाश की रेखा उसको किसी ज्योतिस्तम्भ का पता दे रही है । उतना प्रकाश भी आंखों को चौंधिया रहा है । तब व्याकुल जीवात्मा हठात् आंख बन्द कर लेता है ।

मूदौं आंख कतहुं कोऊ नाहीं ।

परन्तु अविद्या में ग्रस्त भूल जाता है कि चूहे के आंख मूंदने से क्या बिल्ली से छुटकारा हो सकता है ? आंखें मूंद कर मृत्यु के मुंह में घुसा चला जाता है । भोले मूर्ख ! संसार को भले ही धोखा देले, परन्तु सत्य को कौन धोखे में डाल सकता है ? बन्द हुई आंखें भी खुलने लगती हैं । मौत समीप आती है और आंख प्रयत्न करने से भी मूंदी नहीं जा सकतीं। यदि मर जाय तब भी तो उसके सम्बन्धी उस अवस्था में बल से आंखें बन्द कर देवें, परन्तु वहां तो अभी सिसकता पड़ा है । आंखों की पुतलियां घूमती हुई, निराशा के स्वरूप में डरावनी मालूम होती हैं ।

यह भयानक अवस्था संसार को डांवाडोल कर देती है । एक का विलाप सैकड़ों की शान्ति का नाश करने के

लिए पर्याप्त है। तो क्या करोड़ों का मानसिक रोना पशुपक्षी तथा वनस्पति तक के हृदयों का न दहलाता होगा?

यही दीनदशा संसार की देखकर उसका ज्ञान रखने वाले, उसी का नित्य दर्शन करने वाले तथा उसी में अपने आपकी स्थिति समझने वाले ज्ञानियों के हृदय करुणारस की मूर्त्ति बन जाते हैं। तब वे अपने गिरे हुए भाइयों को उठाने के लिये ज्ञान की बाहु पसार देते हैं। भाइयों को उठाने की प्रबल इच्छा भी है, उसके लिए प्रयत्न भी है, किन्तु केवल ज्ञानरूपी बाहु अशक्त सिद्ध होती है। उठने के स्थान में वे गिरे हुए आत्मा, उस ज्ञानरूपी बाहु को खींचने लगते हैं। उस समय देवी सरस्वती का विकाश होता है और उसकी प्रदान की हुई श्रद्धा रूपी अमृतधारा का स्रोत खुल जाता है। मरते हुओं के अन्दर जीवन आ जाता है और वे अपने उठाने वाले ज्ञानी बड़े भाई को स्वयं अपने उठने में सहायता देते हैं और तब भाई भाई के हाथ में हाथ दिए, जीवन से भरपूर एक होकर कहते हैं:—

श्रुतिमात्ररसाः सूक्ष्माः प्रधानः पुरुषेश्वरः।
श्रद्धा मात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा॥
श्रद्धाविधि समायुक्तं कर्म यत्क्रियते नृभिः।
स विशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते॥

इस अमर धेनु को कैसे दुहें ?

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ।

(ऋ० १ । १६४ । २६)

'इस भली प्रकार दुही जाने वाली धेनु को मैं निपुण हाथों वाला गोधुक् स्वीकार करूं और उत्तम ऐश्वर्य का देने वाला हम में इस दोहने की विद्या का सामर्थ्य उत्पन्न करे, जिससे मैं सर्वतः प्रदीप्त प्रताप से प्रकाशित होकर उस विद्या को भली प्रकार कहूं।"

'धेनु इति वाङ् नाम सुपठितम्' नैघण्टुक काण्ड अध्याय २, खण्ड २३ में धेनु को वाणी के अर्थमें लिखा है। यहां पर गा, गौः भी वाणी अर्थ में प्रयुक्त है। दुही जाने वाली वाणी ही है। जब तक ज्ञान, आत्मा और मन के अन्तर्गत ही रहता है, तब तक उसका बाहर प्रचार नहीं हो सकता। ज्ञान का प्रसरण वाणी द्वारा ही होता है। दुग्ध की प्राप्ति के लिये दो बातों की आवश्यकता है, एक गौ सुशीला सुगमता से दुही जाने वाली हो और दूसरे यह कि दोहने वाला सुहस्त अर्थात् दोहने में निपुण हो। इसी प्रकार वाणी रूपी धेनु से पूरा लाभ उठाने के लिये पहली आवश्यकता यह है कि ज्ञान का उल्लेख ऐसी भाषा में हो जिस में तत्वज्ञान की प्राप्ति सुलभ हो सके, और दूसरे, उसमें से तत्व निकालने वाला जिज्ञासु ऐसा निपुण हो कि दूसरों तक उस के भाव को आसानी से पहुंचा सके। वेद स्वयं इस सचाई

का प्रमाण है। जहां वैदिक भाषा सरल से सरल और सब प्रकार के शब्द जाल से मुक्त है वहां उसका आशय सदा ही उच्च रहता है। उस आशय को दूसरों तक पहुंचाने वाला हो यदि सुदृस्त, योग्य, हो तभी वैदिक-सत्य का प्रचार होता है।

धर्मोपदेशक की तरह शिक्षक का पद भी बहुत ऊंचा है। जितना शिक्षक का पद ऊंचा है इतना ही उस पद तक पहुंचने के लिये तैयारी अधिक करनी पड़ती है। शिक्षक के लिये कवि की तरह, इतना ही पर्याप्त नहीं कि पूर्व योनि के उत्तम संस्कारों सहित जन्म ले, प्रत्युत कुछ और भी आवश्यक है। असील से असील गाय से शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद दूध प्राप्त करने के लिये भी दोहने की विद्या में बड़े परिश्रम की आवश्यकता होती है। तब वेद रूपी ज्ञान को दोह कर मक्खन निकालने के लिये क्या उच्च साधनों की आवश्यकता न होगी? शिक्षक को पहले स्वयं अपने अंग प्रत्यंगों को वश में करना चाहिए। उसे बनावटी नहीं, अपितु स्वाभाविक नट बनने की आवश्यकता है। इस प्रकार साधन सम्पन्न हो कर ही उसे मैदान में उतरना चाहिए।

साधनसम्पन्न विद्वान ही पता लगा सकता है कि सरलता से दुहे जाने पर अमृत मय फल की प्राप्ति किस वाणी से हो सकती है जिस को वह संसार के कल्याणार्थ फैलावे। शिक्षा देने से पूर्व शिक्षक के लिये उचित पाठविधि का निश्चय करने की आवश्यकता है। मेले में सहस्रों गाय बिकने को खड़ी रहती हैं। उन में कोई सींग मारने वाली, कोई दूध न देने वाली और कोई रोग से पीड़ित है। बुद्धिमान गोधुक् उन में से किसी को हाथ नहीं लगाता। ज्ञान रूपी गाय को

भी यही अवस्था है। शिक्षक किस ज्ञान को प्रचार करने के लिये स्वीकार करे, ? जिस पुस्तक की भाषा में इन्द्रियों का उकसाने और बुरी कामनाओं को उत्तेजित करने का दुगुण है, उन्हें बुद्धिमान् साधन-सम्पन्न शिक्षक अपनी पाठविधि से पहले ही निकाल देगा। जिस वाणी से मनुष्यों में परस्पर द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो, जिन उपन्यासों से काम-चेष्टा उत्तेजित हो, जिन तुकबन्दियों से पिघल कर मनुष्य में पशु-भावका प्रवेश हो, उनको शिक्षक पहिले त्याग दे। फिर निर्दुग्धा गाय की तरह वाणी भी निस्सार नहीं होनी चाहिए। वेद का एक २ शब्द अपने अन्दर सार रखता है। वेदानुयायी उपनिषद्कार मुनियों ने एक शब्द भी विना प्रयोजन के नहीं लिखा। कलियुगी संस्कृतज्ञों ने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' के शब्द जाल में फंसा कर आर्य जाति को नास्तिकपन के गढ़े में गिरा दिया। ईश्वर-भक्ति और उपासना से विमुख करा कर इसी शब्दजाल में जीवों को भ्रमा युक्त कर उन्हें ब्रह्मका धोखा दिलाया।

इनके अतिरिक्त जो वाणी, मनुष्य में अभिमान तथा आत्मश्लाघा का कुसंस्कार डाल कर उसका सर्व नाश करने वाली हो, रुग्ण गौ की तरह उस से भी बचना चाहिये। जिस प्रकार दूध के साथ २ रुग्ण गौ का विष, दूध पीने वालों में फैल कर उन सब का नाश करता है उसी प्रकार विष युक्त वाणी, सुनने वालों में फैल कर उन का नाश कर देती है।

शिक्षक का पद जितना ऊंचा है, उसके लिये साधन भी उतने ही कठिन हैं। वे साधन कैसे निभ सकें ? जीवात्मा की अल्प शक्ति इस बड़े बोझ को उठाने के योग्य नहीं। इसलिये

उस महती शक्ति का सहारा लेना चाहिये जिस के आश्रित को क्लेश की कोई भी आंधी डगमगा नहीं सकती। जिसके पास ऐश्वर्य है वही दूसरों को ऐश्वर्यवान् बना सकता है। जिसके पास अपना कुछ नहीं वह किसी को क्या दे सकता है ? "नंगी क्या नहावे, क्या नचोड़े ?"। जिन्हों ने अपनी अल्पज्ञता को भुला कर दूसरों की पथ प्रदर्शकता का बोझ अपने ऊपर लिया उन्होंने शिष्य का और अपना दोनों का नाश कर लिया। परन्तु जिन्हों ने वाणी के स्वामी सर्वज्ञ पिता से ज्ञान लाभ करके जो कुछ भी प्राप्त किया उसे ज्यों का त्यों शिष्यों के आगे रख दिया, उन्हों ने अपने शिष्यों का और अपना, दोनों का कल्याण करके जीवन का उद्देश्य पूर्ण किया। शिक्षक को परमात्मा से प्रकाश लेना चाहिये। तब उस प्रकाश से प्रदीप्त होकर वह अपने शिष्यों को प्रकाश दे सकता है। उस समय उसे बल लगाने की आवश्यकता न होगी, उसका जीवन, उसका रोम २ स्वयं बोलेगा और बिना परिश्रमके ही शिष्योंके अन्दर विद्या रूपी सूर्य के प्रकाश का सञ्चार होगा। धन्य है वह जाति, और धन्य है वह देश, जहां पर इस प्रकार की, गुरु शिष्य के सम्बन्ध द्वारा शिक्षा होती है।

गुरु शिष्यके वास्तविक मेल से संसार शान्त होता है ।

ओ३म । ममत्तु नः परिज्मा वसर्हा ममत्तु वातो आपां वृषणवान् शिशीतमिन्द्रा पर्वता युवं नस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः । ऋ० १। १२२ । ३

"निवास स्थान बन कर जलता हुआ (अग्नि) आनन्दित करावे, जलों की वर्षा कराने द्वारा पवन हमको आनन्दित करावे । हे सूर्य ! और मेघ मण्डल के सदृश (शिक्षा रूपी तेज से हृदय को पवित्र करके ऊपर उठाने वाले शिक्षक तथा शिष्य !) तुम दोनों हमको तीक्ष्ण बुद्धि से युक्त करो। जिससे सब (दिव्य गुणों के निवास कराने वाले) देव हम लोगों को आश्रय देने वाले हों ।"

पहिले पहल संसार के अथाह समुद्र में गिर कर बालक सूर्य के प्रकाश में ही आंखें खोलता है । वह जीवन का अनुभव नहीं करता जब तक सूर्य भगवान् के दर्शन न हो लें । प्रकाश ही जीवन है । सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश ने ही धारण किया हुआ है, प्रकाश ही सब का निवास स्थान है। सब वस्तु इसी के आश्रय से दिव्य गुणों को बसाने वाली बन रही है । एक ओर प्रकाश जहां सबका निवास स्थान है वहां दूसरी ओर दिव्य गुणों का बसाने वाला भी है । केवल चेतन मनुष्यों में ही नहीं, अपितु जड़ पदार्थों में भी दुर्गुण रूपी अंधेरा छाया रहता है। जहां प्रकाश हो वहां अंधेरा रह नहीं सकता। अग्नि जहां एक ओर सारी कार्य प्रकृति को घेर लेती है, वहां

दूसरा ओर पदार्थों के मलों को जला कर भस्म भी कर डालती है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे जीवनों में नित्य दिखाई देता है। कौन सा स्थान है जहां हम अपने प्यारे प्राण पति की ज्योति से जुदा होते हैं? सब स्थानों और सब अवस्थाओं में वही हमारे संग संग है। वह हमारा निवास स्थान, अन्दर बाहर सब जगह परिपूर्ण हो रहा है। वह 'आदित्य वर्ण' ज्वलन्त प्रकाश है। जहां और जब कभी हम ज्योति का साक्षात्कार करते हैं उसी समय हमारे दुर्गुण जल कर भस्म हो जाते हैं और आनन्द ही आनन्द का अनुभव होने लगता है। तप के पश्चात् ही ठीक विश्राम मिलता है। तपाए जाने पर ही स्वर्ण, मल रहित हो कर चमकता है। आत्मा को भी स्वच्छ करने के लिए तप रूपी अग्नि में प्रवेश कराने की आवश्यकता है।

अग्नि मलों से जल को शुद्ध करके, गिरी हुई अवस्था से उसे ऊपर उठाता है। वही अग्नि वायु रूप होकर मेघ को उचित स्थान पर बरसाता है। मलों से शुद्ध भूमि जल के ऊपर उठ जाने से व्याकुल हो उठती है। जब तक भूमि पर जल था तब तक मलों में लथ पथ हुआ, एक प्रकार की तामस शक्ति दे रहा था, परन्तु जब जल के उठ जाने से भूमि मल से मुक्त हो गई तब उसके अन्दर की जलन ने उसे व्याकुल कर दिया। वायु ने मेघ मण्डल को हिला कर वर्षा कराई, जिससे भूमि के सभी चराचर प्राणी ताप रहित हो गए। यह अवस्था उन कर्मपरायण आत्माओं की होती है जिनके हृदय के मल को आस्तिक बुद्धि का तेज स्वच्छ कर देता है। उस समय आत्मा को पाप का ठीक बोध होता है पाप के बोध से सच्चे अनुताप की उत्पत्ति होती है। इस

नीरोग अवस्था में मनुष्य बहुत क्लेश अनुभव करता है, परन्तु यह कष्ट देर तक नहीं रहता। जिस ज्योति स्वरूप पिता ने ज्ञान रूपी जल को, सब मलों से अलग कर, ऊपर स्थित किया वही वायु रूप से उस ज्ञान रूपी मेघ मण्डल को हिला कर बरसा देता है। मन, हृदय और आत्मा में सच्चे सुख और शान्ति का संचार होता है।

यही प्रत्यक्ष दृष्टान्त परम पिता ने सांसारिक गुरु शिष्यों के सामने भी रख दिया है। गुरु तथा धर्मोपदेशक को पहिले अग्नि का रूप धारण करना चाहिये। फिर झूठी दया और प्रेम को त्याग कर उसे केवल तेज का आश्रय लेना चाहिये। शिष्य-प्रेम यही है कि उसके अन्दर एक भी मल न रह जाय। उसके दुर्गुणों को नष्ट कर दिया जाय। तब ज्ञान स्वच्छ होकर ऊपर को उठेगा। ज्यों २ शुद्ध ज्ञान ऊपर उठता जायगा त्यों २ जिज्ञासु शिष्य का हृदय व्याकुल होता जायगा। वे शिष्य भाग्यवान हैं जिनके हृदय सच्चे ज्ञान के लिये व्याकुल हो रहे हैं। जब तक शरीर स्वस्थ न हो तब तक ज्ञान रूपी अमृत को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त नहीं होती। आचार्य की विद्या, आचार्य का सदाचार, उत्तम शिष्य मिलने पर ही सफल हो सकता है। यह ठीक है कि सत्य विद्या में दानवृद्धि होती है। जिस समाज में सदाचारी, धर्मात्मा, ज्ञानी आचार्य हों, और उन से शिक्षा लेने वाले श्रद्धा सम्पन्न स्वच्छ हृदय शिष्य हों, उसी समाज का कल्याण होता है। उसी समाज की प्रजा अन्तःकरण से यह प्रार्थना कर सकती है 'हे शिक्षक तथा शिष्यगण! तुम लोगों के संघर्षण से ही हम लोगों की बुद्धियां तीक्ष्ण होंगी।

उस तीक्ष्ण बुद्धि की कसौटी पर अपने कर्मों को परख कर जब हम आचरण करेंगे तब सब देव हमको आश्रय देने वाले होंगे।

पृथ्वी, जल, वायु, और आकाश, इन्द्रिय तथा मन सभी शक्ति प्रदान करने वाले होते हैं, जहां ज्ञान और क्रिया के भण्डार ज्योतिःस्वरूप परमात्मा पर विश्वास रखने वाले गुरु स्वच्छ हृदय श्रद्धालु शिष्यों को शिक्षा देते हैं।

मित्र के एक वार दर्शन करके उसे न भूलो।

ओ३म्! श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम्।
श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः ॥

(ऋ. १।१२२।६)

मित्र और वरुण हमें जीवन के पलपल में अपना परिचय देते हैं। 'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः' सब से कौन स्नेह करता है, और सब किस से स्नेह करते हैं? सूर्यास्त के पश्चात् कृष्णपक्ष में जब घटाटोप अन्धकार छाजाता है, उस समय निर्जन जंगल में भटके हुए यात्री को किस आशा का सहारा है। वृक्ष के पत्तों की भयानक खड़खड़ाहट और हिंसक पशुओं के क्रूरनाद को सुनकर यदि भटका हुआ पथिक जीता है तो केवल इस आशा पर कि प्रातःकाल होते ही सूर्य का उदय होगा और सब दुखों का नाश हो जायगा। कुसंग में फंसकर, विषयों में लिप्त हो जब आत्मा के ज्ञान चक्षुओं के आगे अन्धकार रूपी पर्दा आजाता है, तब उस निराशा के समय आत्मा यदि जीता है तो केवल ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश की आशा पर। जब सारा संसार तिनका तोड़कर किनारा कर जाता है उस समय भी धर्मरूपी सूर्य साथ नहीं छोड़ता। जब अति वृष्टि के कारण वृक्ष और पौदे मुर्झाने लगते हैं, उस समय सूर्य के उदय होते ही वनस्पति मात्र आल्हाद में निमग्न हो फिर से लहलहाने लग जाते हैं। निस्सन्देह सूर्य से बढ़कर स्थावर और जंगम जगत् का

कोई यदि मित्र है तो सूर्य लोकों का भी प्रकाशक हिरण्य गर्भ के सिवाय कोई नहीं।

वही परमात्मा जो अपने आदित्यवत् गुणों से मित्रवत् अप्राणी तथा प्राणीमात्र (निराश्रयों) का आश्रय है, वही अपने वरुण गुण से सारे ब्रह्माण्ड का राजा है। उसकी आज्ञा में काम करने वाला, प्राणों तथा उपप्राणों का प्रेरक वायु भी भौतिक जगत् का राजा है। धर्मात्मा योगियों को जो स्वीकार करता और उक्त धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता वह 'श्रेष्ट' सब का राजा 'वरुण परमात्मा' है। उसकी आज्ञा में चलता हुआ भौतिक वरुण भी पञ्चभूतों का राजा है। ऋग्वेद मं० २। सू० २७। मं० १० में इसी लिये कहा है: -

'त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा'

प्रकाश (अग्नि) के बिना चिरकाल तक निर्वाह हो सकता है, पृथिवी से उत्पन्न हुई वनस्पति के बिना ४० दिनों तक निर्वाह किया जा सकता है, जल के बिना भी ७ दिन तक शायद निर्वाह हो सके, परन्तु प्राण की गति के बिना एक पल भी कठिनता से निर्वाह होता है। मित्र का साथी और उसका आधार 'वरुण' सब का निस्सन्देह राजा है।

मित्र और वरुण जब तक अनुकूल न हों तब तक जीवन पथ पर चलना कठिन है। मित्र सम्पूर्ण प्रकाश (ज्ञान) का देने वाला है और वरुण गति देने की शक्ति रखता हुआ सब क्रियाओं का स्रोत है। जिसने मित्र और वरुण का ध्यान अपनी ओर खींच लिया, जिसने इन दोनों को अपने सेवा व्रत से हिला लिया, सारी कृतकार्यता और जीवन की सफ-

लता उसी के लिए है। "हे मित्र और वरुण! मुझ अच्छे सुनने वाले के इन समर्पित किये वचनों को सुनो।" मैं अच्छे सुनने वाला कैसे बना हूं?

"अन्तरीय और वाह्य दोनों कानों को तुम्हारी ओर लगाये हुए ही मैंने अपने कानों द्वारा अपनी वाणी का भी संशोधन किया है। मेरे योग्यता सम्पादन कर लेने पर ही तुम मुझे स्वीकार करोगे। तुम दोनों से बढ़कर इस तय्यारी के के लिये मेरा कौन सहायक हो सकता है?' यह भाव मनुष्य में जब तक नहीं आते तब तक प्राप्त किया हुआ आत्मिकबल भी स्थिर नहीं हो सकता। जिज्ञासु के लिये यही उचित है कि 'ज्ञान और कर्म' 'प्रकाश और प्राण' की उपासना से कभी न गिरे। तदनन्तर ही वह यह उत्तम प्रार्थना शुद्ध भाव से कर सकेगा, और सामाजिक व्यवहारों तथा सब एकान्त अवस्थाओं में भी (हे मित्र और वरुण!) हम सबको मर्यादा में स्थिर रखते हुए हमारी प्रार्थना को सुनो। जलों के समुदाय (समुद्र) से जैसे नदी उत्तम क्षेत्र को प्राप्त होती है इसी प्रकार सारे स्रोतों के स्रोत, हे मित्रावरुण! आप हमारे समर्पित भावों को स्वीकार करो।"

जिस प्रकार अथाह समुद्र में बड़े से बड़ा जहाज़ बिना किसी आश्रय के डांवाडोल रहता है और उसपर यात्रा करने वाले मनुष्य संदिग्ध अवस्था में भयभीत रहते हैं, परन्तु जिस प्रकार किनारे पर चमकते ज्योतिःस्तम्भ को देख कर छोटी नौका में बैठे यात्री का भी मन स्थिर हो जाता है इसी प्रकार प्रकाशकों के प्रकाशक और प्राणधारियों के प्राणाधार जगन्नियन्ता के ज्ञानरूपी प्रकाश के ज्योतिः स्तम्भ की

ओर जिनकी टकटकी एक वार वंध जाती है वे सांसारिक ऐश्वर्य और सांसारिक शक्तियों से रहित होते हुए भी स्थिर चित्त होकर कभी डांवाडोल नहीं होते। पाठक वृन्द! शरीर मन और आत्मा की सारी शक्तियों को कुछ काल के लिए ज्योतिः-स्तम्भ की ढूंढ में लगा दो। विद्युत् की तरह उसका चमत्कार कई वार तुम्हारे आत्मा को प्रकाशित कर चुका है। वह शुभ घड़ी फिर भी आ सकती है जब कि वह प्रकाश फिर तुम्हारे अन्दर चमक उठे। अब की वार उस प्रकाश की रेखा के पीछे अपनी दृष्टि को दौड़ा दो। उस असीम मैदान में दृष्टि को एक वार उसके पीछे लगा देने से वह फिर लौट कर नहीं आवेगी और तब आश्चर्य से देखोगे कि अज्ञात दैवीय शक्ति तुम्हारी सहायक होकर उस स्थिर प्रकाश को तुम्हारी दृष्टि से ओझल नहीं होने देगी।

विशुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करो।

ओ३म्। स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्ष-
ण्वान्न विचेतदन्धः कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता
विजानात्स पितुष्पितासत् ॥ १६ ॥

ऋ० मण्डल १। सू० १६४। मं० १६।

"(जिनके उत्तम गुणों) को विज्ञानवान् पुरुष देखते हैं, जिन्हें (विज्ञान शून्य) पुरुष नहीं जान (सकते), जिनकी (सदाचारिणी) सती स्त्रियां कहती हैं, उन मेरे पुरुषों को जिनके कवि (तत्वज्ञानी) पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनको भली प्रकार जानो। वही पिता का पिता होता है, ऐसा तुम जानो।"

परमेश्वर का प्यारा पुत्र कौन है? जिस पवित्र जन शक्ति से परमेश्वर सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं वही जन शक्ति उन्होंने मनुष्य को प्रदान की है। जो पुरुष उत्तम तत्वज्ञानी (कवि) सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति रखता है वही परमेश्वर का प्रिय पुत्र है। जिसका शरीर वीर्यवान् और बलिष्ठ है, जिसका मन शुद्ध संकल्पों का केन्द्र है, जिसका आत्मा उत्तम गुणों का निवास स्थान है, उसके वास्तविक रूपको तत्वज्ञानी विज्ञानवान् देव ही देख सकते हैं। विज्ञानशून्य अन्धा, मूर्ख, उसको क्या पहिचानेगा? मनुष्य किस प्रकार समझ सकता है कि वह परमेश्वर का पुत्र है? निस्सन्देह ईश्वर के प्यारों की साक्षी ही इसके लिये प्रमाण

हो सकती है। जिसकी लाखों मूर्ख प्रशंसा करें और दूसरी और एक सदाचारी धर्मात्मा ज्ञानी उसके आचार को दूषित समझे तो तत्वज्ञानी धर्मात्मा की सम्मति ही ठीक है। हे संसार यात्रा के पथिक! मूर्खों की अप्रशंसा से न डर कर तुम धर्ममार्ग से च्युत न हो।

धर्मात्मा, सदाचारी, ईश्वर के प्यारे से ही सती बात करती है। संसार इस समय अविद्या के गढ़े में पड़ा, जीवन विद्या को भूला हुआ है इसीलिये विवाह के मुख्य उद्देश्य को नहीं जानता। धन, मन, कीर्ति विषय भोगादि के लिये विवाह सम्बन्ध होते हैं। पितृऋण से उऋण होने के विचार से शायद ही कोई विवाह होता हो। यह शोचनीय अवस्था क्यों है? इसीलिये कि विवाह में स्त्री का महत्व कुछ भी नहीं समझा जाता।

प्रभु परम पिता कहते हैं कि मेरा प्यारा पुत्र वह है जिसे मेरे प्यारे भक्त अपनाते हैं, जिसको सदाचारी धर्मात्मा पुरुष अंगीकार करते हैं। जो पुरुष मूर्खों के व्यंग्य से न डर कर अपने कर्तव्य पालन में लगे रहते हैं उन शुद्ध शरीर, शुद्धान्तः करण तथा शुद्ध आत्मा पुरुष को ही साध्वी सती स्त्री प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करती है। इन दोनों का ही विशेष प्रकार से सम्बन्ध अर्थात् विवाह हो सकता है। और उस सम्बन्ध से कवि उत्पन्न होता है। यह सार गर्भित तथ्य है। तत्ववेत्ता, (Genius) बनाए नहीं जाते और न बनते हैं, प्रत्युत वे उत्पन्न होते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर 'जान कावेन' ने अपनी पुस्तक 'The Scienee of a new life' का एक अध्याय

इसी विषय के अर्पण किया है। उन्होंने वर्तमान अविद्या के साथ संग्राम करते हुए यह बतलाया है कि यदि गर्भाधान-संस्कार से वर्ष भर पहिले ही माता पिता कवि सन्तान उत्पन्न करने का दृढ़ संकल्प करलें और अपनी प्रबल मानसिक इच्छा को इसी में लगा दें तो इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। तुकबन्दी करने वाले का नाम कवि नहीं है; तत्वज्ञानी को कवि कहते हैं। किस तत्व का ज्ञानी सन्तान हो, यह माता पिता के आधीन है, यदि वे शुद्ध भाव से ईश्वरीय नियमों का पालन करें। परम पिता का मनुष्य मात्र के लिये उपदेश है कि वे अपनी प्यारी प्रजा को पहिचानें, क्योंकि जो परमेश्वर का प्यारा है वही पिताओं का भी पिता अर्थात् रक्षक होता है। पिताओं को उनके कर्तव्य से सचेत वही कर सकता है जिस में स्वयं शुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता हो। जिसने गृहस्थाश्रम को आदर्श रूप से दम्पतियों के सामने रक्खा, जिसने अपने आदर्श से गृहस्थिओं को दिखाया कि पति पत्नी का सम्बन्ध विषयभोग में लिप्त होने के लिये नहीं है, जिसने अपने उदाहरण से दिखलाया कि सुख विषयों का दास बनने में नहीं प्रत्युत विषयों को अपना दास बनाने में है उस से बढ़कर पिताओं का रक्षक और कौन हो सकता है? परमात्मा का आदेश है कि जो पवित्रता को देख नहीं सकते, जो पवित्र जीवन की श्रेष्ठता को समझ नहीं सकते, उनके लिये संसार में जीवन नहीं है। इस प्रकार के पुरुषों की आखें खोलने का काम ईश्वर के प्यारे, पवित्रात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

देवियों का बड़ा अधिकार है। यदि वह पति के साथ सम्बन्ध जोड़ने से इन्कार करदें तो संसार का आधा क्लेश

एकदम दूर हो सकता है। आर्य पुरुषो! यदि तुम ईश्वराज्ञा का पालन करते हुए शरीर मन और आत्मा को शुद्ध करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तो तुम्हारे सहस्रों-लाखों भाई विषयासक्ति के गढ़े से निकल कर परमेश्वर के प्यारे पुत्र बन जांय।

उसको न मानते हुए भी तुम उसे जानते हो

ओ३म् । यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥

ऋ० १ । १६४ । २१ ।

'सम्पूर्ण भुवनों (लोक लोकान्तरों) का पालक, सर्व मण्डल जिस में स्थित हैं, जिस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्म वाले जीव (आप्त, धर्मात्मा विद्वान्) अमृत के अंश (अमर जीवन दिलाने वाले तत्व ज्ञान वेद) को निरन्तर प्रत्यक्ष कहते हैं, उस (परमेश्वर का उपदेश) मुझे वे ही धीर (ध्यानवान्) पुरुष, परिपक्व अवस्था में करें।'

सब लोक, लोकान्तरों को सूर्य ही प्राणशक्ति प्रदान करता है इसी लिए उसे सब का पालक कहते हैं। यह प्राण शक्ति सूर्य ने किस से प्राप्त की? निस्सन्देह प्राणों के भी प्राण ब्रह्माण्ड पति से ही यह प्राण-शक्ति सूर्य ने प्राप्त की है। इस लिए शारीरिक जीवन का परमस्रोत परमात्मा ही है। परन्तु शरीर के जीते हुए, शारीरिक सब प्राकृतिक व्यापार करते हुए, नहीं कह सकते कि मनुष्य जीवित है, यदि उस का आत्मा जीवित न हो। जिस प्रकार शरीर के चलते फिरते रहने और जीवित कहलाने के लिए आवश्यक है कि अन्य भोजन के साथ वह सूर्य की प्राण प्रदायिनी किरणों को भी अपने अन्दर खींचे, उसी प्रकार आत्मा को जीवित (चेतन-

अवस्था में) रखने के लिये मानसिक भोजन के साथ २ वैदिक ज्ञान की अमृतमय किरणों से अमर जीवन प्राप्त करने की आवश्यकता है।

जिस से जड़ और चेतन सभी जीवन धारण करते हैं, एक मात्र केवल जो प्राणी और अप्राणी मात्र का आश्रय है, उस की प्राप्ति की शिक्षा देनेका कौन अधिकारी है? यह कहे नहीं बनता कि इसे परम पिता की प्राप्ति की आवश्यकता है, और उसे नहीं है। तुम चाहो या न चाहो उस की प्राप्ति उस के सहवास की आवश्यकता सब को है। जब वह घटर में व्यापक है फिर कहीं ही क्यों न रहो तुम उसे त्याग नहीं सकते और विना उसके निर्वाह नहीं हो सकता। आंखे मूंदने से क्या अन्दर के भाव ओझल हो सकते हैं? वह सर्वत्र व्यापक और हमारा प्राणेश्वर है। उस से हम किसी समय भी अलग नहीं हो सकते। कह कह कर लोगों ने नास्तिक्‌वन के गढ़े में पैर लटका दिये, परन्तु यह कहते हुए भी कि गढ़ा कहीं नहीं, उन्होंने अपने पांव गढ़े से अलग खींच लिए। मुख द्वारा उस से विमुख होते हुए भी तुम कर्म में उसका आश्रय न छोड़ सके। हे संसार यात्रा के पथिक! तुम्हें वहीं जाना है चाहे किसी मार्ग से पहुंचने का यत्न करो। जो श्रद्धालु भक्त जनों का लक्ष्य है वही श्रद्धाशून्य प्रत्यक्षवादियों का भी उपादेय है। अपने आपको प्रत्यक्ष वादी वतलाते हुए भी इन भटके हुओं ने समझा नहीं कि प्रत्यक्ष क्या है? प्रत्यक्ष तो गुणों का होता है, गुणों के तो साक्षात् दर्शन होते नहीं। ग्राह्य चक्षुओं ने आज तक कभी किसी गुणी के दर्शन नहीं किए। ऊपर से चाहे कितना ही आडम्बर रचो, चाहे तुम्हें

झूठी लोक लाज यह स्वीकार करने से रोके परन्तु तुम्हारे अन्दर उत्कण्ठा साक्षात् दर्शन की ही है।

दर्शन क्यों नहीं होते ? अभिमान से जिसकी गर्दन उठी हुई हो उसे कभी आज तक प्रकाश के दर्शन नहीं हुए। जिसे कभी सूर्य के दर्शन नहीं हुए, जन्म लेते ही जो अन्धा होगया प्रकाश का अनुभव भी न कर पाया था कि आंख खो बैठा, उसे यदि धन्वन्तरि मिल जाय और उसकी आंख खोल दें तो उसकी क्या दशा होती है ? यदि वह अभिमान से अकड़ कर दोपहर को सूर्य की ओर देखता है तो आंखे चौंधिया जाती हैं और शायद वह फिर अन्धा होजाता है। चिरकाल से बिछुड़े प्रकाश के आगे यदि वह श्रद्धा से शिर झुका लेता है और नीची दृष्टि रख धीरे २ सूर्य के प्रकाश का सहन करने का अभ्यास करता है तो जहां उसकी आंखें बहुत तेज़ हो जाती हैं वहां सूर्य के प्रत्यक्ष दर्शन करने की शक्ति भी धारण कर लेती हैं। चक्षुरोग से पीड़ित दो मनुष्यों की अवस्था में भेद क्यों पड़ा ? पहिले का आपरेशन शायद एक नव शिक्षित सर्जन ने किया, जिसे पुस्तक और चीर फाड़ का ज्ञान तो शायद अद्वितीय है परन्तु अनुभव अभी कुछ नहीं। दूसरे का अपरेशन अनुभवी चिकित्सक ने किया। उसे मालूम है कि रोग का चिकित्सा करना इतना कठिन नहीं जितना पथ्य का सेवन कराना दुष्कर है। बुद्धिमान् रोगी को अनुभवी चिकित्सक की ही शरण में ले जाते हैं और बुद्धिमान् रोगी भी ऐसे धन्वन्तरि के शरण में ही जाते हैं।

अविद्यान्धकार रूपी रोग से पीड़ित भाइयो ! हमारा रोग समान है। हमें इस रोग से मुक्त होने के लिए क्या ऐसे ही आत्मिक धन्वन्तरि की शरण में जाने की आवश्यकता

नहीं ? जिस परमात्मा के अन्दर सूर्यादि लोक स्थित हैं वही अमृतमय वेदिकज्ञान का आधार है। उसे वेद ही ठीक कहता है इस लिये वेदवित् विप्र के पास ही हमारे अज्ञानान्धकार की औषधि है। वही आंखों के उस जाले का आपरेशन कर सकता है जिसने आत्मिक सूर्य के प्रकाश को देखने से हमें रोका हुआ है। सहस्रों अपनी अवस्था को समझते और चिकित्सा के लिये वैद्य के पास चल देते हैं। बीसियों वेद का पुस्तक खोले बैठे हैं, उन्हें चारों वेद कण्ठस्थ हैं, वे अन्वय कर पदार्थ भी लगाते हैं, ठीक भाव को बतला कर आंखों के पर्दों को गिरा भी देते हैं, ज्ञानचक्षुओं में देखने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है परन्तु आगे कुछ नहीं है। वैद्य को आगे का ज्ञान कुछ नहीं है। यह खुले हुए चक्षु इसी अवस्था में रहेंगे भी नहीं ! इसका ज्ञान नहीं। उपनिषद्कार ऋषि ने लिखा है कि ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् की सेवा में समित्पाणी उपस्थित होकर प्रश्न करो। वेद का आदेश है कि जिस परमेश्वर में सूर्यादि भौतिक लोक लोकान्तर स्थित हैं और जिस में आत्मिक सूर्य वेद की भी स्थिति है उसके दर्शन के लिए उसी ब्रह्मवादी की शरण में जाओ जिसकी साधना द्वारा परिपक्व अवस्था हो चुकी है।

—:o:—

पवित्र जनशक्ति का दुरुपयोग मत करो।

ओ३म् । यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

ऋ० १ । १६४ । २२

"जिस सारे (कार्य प्रकृति रूपी) वृक्षपर (इन्द्रियों के भोग रूपी) मधु का पान करने वाले (जीवात्मा रूपी) सुन्दर पंखों से युक्त पक्षी स्थिर होते हैं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसके निर्मल फल को आगे स्वादिष्ट कहते हैं तथा वह (विषय भोग में न लिप्त होने वाला) प्रत्युत इन्द्रियों से काम लेने वाला प्राणी) नष्ट नहीं होता। (परन्तु) जो पुरुष सारे जगत् के पालक परमात्मा को नहीं जानता (वही) नष्ट होता है।"

प्रकृति रूपी वृक्षपर जीव रूपी पक्षियों को परमात्मा ने ही बैठाया हैं। तब यह लोकोक्ति कैसे सच्ची हो सकती है कि गृहस्थ पाप का मूल है। जिस गृहस्थ को इस समय संसार ने विषय भोग का साधन मात्र समझा हुआ है, जिस को अज्ञानी पुरुष नरक धाम बतलाते हैं, उस गृहस्थ को प्राचीन ऋषि तपो भूमि बतलाया करते थे। गृहस्थ प्रवेश के लिये आज कोई तैय्यारी आवश्यक नहीं समझी जाती है परन्तु प्राचीन काल में गृहस्थ के लिये कम से कम २४ वर्ष की आयु तक तप किया जाता था। आज समझदार आदमी गृहस्थ में

प्रवेश करते हुए डरते हैं, कांपते हैं, परन्तु वेद में परमात्मा गृहस्थ को आज्ञा देते हैं:—

'गृहा मा बिभीत मा वेपध्वम्'

'हे गृहस्थ लोगो ! तुम मत डरो, कम्पायमान मत हो।' कांपने वाले का गृहस्थ में प्रवेश से क्या काम ? मनु भगवान् कहते हैं:—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥

हे गृहस्थ दम्पति ! यदि तुम अक्षय स्वर्ग (मुक्ति सुख) और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रियों के धारण करने के योग्य नहीं है इस प्रकार के गृहस्थाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो।"

मनु तथा अन्य सब ऋषियों ने गृहस्थ करना मनुष्य के लिये आवश्यक बतला कर पितृ ऋण से उऋण होने का उपदेश दिया है, और उन्होंने वेदाज्ञा को आधार भूत माना है। जिस को परमात्मा की पवित्र आज्ञा ने अपनाया हो उसे कौन अपवित्र कह सकता है ? न प्रकृति अपवित्र है और न जीवात्मा। मनुष्य के कर्म ही उन्हें पवित्र और अपवित्र बना देते हैं। जो सज्जन गृहस्थ प्रवेश कर केवल सन्तानोत्पत्ति और उसकी रक्षा के लिए ही इन्द्रियों को काम में लाते हैं, उन्हें संसार वृक्ष पर बैठे हुए उत्तम तथा स्वादिष्ट फल प्राप्त होते हैं। इसी लिए मनु ने गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रम कहा है। शेष सब आश्रमों का यही आश्रय है। यदि गृहस्थ उत्तम सन्तान

उत्पन्न करेंगे तो ब्रह्मचर्याश्रमों को योग्य उत्तम, संस्कृत ब्रह्मचारी मिलेंगे। यदि अपने आश्रम में गृहस्थ दम्पति धर्मानुसार जीवन व्यतीत करेंगे तो उत्तम वनी गुरुकुलों में पढ़ाने और योगाभ्यास द्वारा सन्यासाश्रम में प्रवेश की तैयारी भली प्रकार कर सकेंगे और आयु के चौथे भाग में संन्यासी ही निर्भयता और निष्पक्षतासे मानव धर्म का प्रचार कर सकेंगे।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

जिस प्रकार वायु के आश्रय से ही सब जीवों का जीवन व्यवहार सिद्ध होता है उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रय से सब आश्रमों का जीवन व्यवहार होता है। गृहस्थ ही सब आश्रमों का श्रोत है। और अन्त को गृहस्थ में ही सब आश्रम स्थित भी हुआ करते हैं। इसी लिए मनु जी महाराज कहते हैं:—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

'जिस प्रकार बड़ी २ नदियें और नद समुद्र में पहुंच कर स्थित होते हैं उसी प्रकार सब आश्रमी गृहस्थ को ही प्राप्त होकर स्थित होते हैं।'

गृहस्थाश्रम पवित्र है क्योंकि शुद्ध स्वरूप परमात्मा का निर्माण किया हुआ है। प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीवात्मा को परमात्मा ने ही बैठाया है। उसे इन्द्रियों द्वारा ज्ञानोपलब्धि

और कर्म करने की शक्ति भी उसी प्रभु ने प्रदान की है, उस वृक्ष के निर्मल फल भी उसी परमात्मा की कृपा से स्वादिष्ट होते हैं। इस प्रकार सदाचार से गृहस्थ जीवन व्यतीत करके जो नियम पूर्वक सन्तान उत्पन्न की जाती हैं वहां निर्मल और जन्म दाता माता पिता के लिए स्वादिष्ट फल होता है।

नास्तिक और संशयी-हृदय परमेश्वर और उस के नियमों का विद्रोही कहता है कि जब दुराचारी और नियम तोड़ने वाला भी सन्तान उत्पन्न कर सकता है तो फिर परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? उत्तर मिलता है, कि जो आस्तिक ईश्वराज्ञा पालन करता हुआ सुन्दर शरीर और इन्द्रिय, और आत्मा रखने वाला मनुष्य सन्तान उत्पन्न करता है वह नष्ट नहीं होता, गिरता नहीं, उसकी सन्तान चिरंजीवी होती है। उसके कर्मों का फल निर्मल स्वादिष्ट होता है। जो अधर्मी परमात्मा के नियमों से विमुख हो सन्तान उत्पन्न कर देता है, उसे न स्वयं सन्तान से सुख पहुंचता है, और नांही उसकी सन्तान सुखी रहती है। सम्पूर्ण जगत् के पालक परमात्मा को न जानते, न मानते हुए जिसने नियम विरुद्ध कार्य कर प्रकृति के भोगों को भोगना प्रारम्भ किया उसकी दशा उस पक्षी की तरह है, जो सुन्दर फलदार वृक्ष पर घोंसला बनाकर भी नहीं जानता कि किस ऋतु में फल पकता और वह किस प्रकार खाया जाता है? इस प्रकार का पक्षी अपक कच्चे फलको खा, बीमार हो, कांटों में फंस कर नष्ट हो जाता है।

आकाश में उड़ उच्च शिखर पर पहुंचने के अभिलाषी हे, पक्षीगण! उच्च शिखर पर दृष्टि रखते हुए आकाश मंडल को पार करते चले जाओ, मार्ग में पीछे फिर कर न देखो। क्योंकि उस उच्च ज्योतिःस्तम्भ का प्रकाश आंख से ओझल होते ही ऐसे स्थान में गिर जाओगे जहां से उठना चिरकाल के लिये कठिन हो जायगा॥

चौथे पादमें ही परम शान्ति है ।

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् । गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥

ऋ० १।१६४।२५

'जो (जगदीश्वर) संसार के साथ समुद्र को और अन्तरिक्ष में प्रकाश को दृढ़ करता है, और सब ओर से देखता है उसे गायत्री की तीन समिधाएं कहती हैं। वह बड़े प्रशंसनीय भावसे उन (तीनों समिधाओं) से भी अलग समझा जाता है।'

गायत्री यज्ञ की तीन समिधाएं ही उस तक पहुंचने वाली हैं, क्यों कि वे ही उसके स्वरूप का ठीक वर्णन करती हैं। उन्हें कैसे अनुभव किया जाता है? अशक्त जीवात्मा जब संसार की ठोकरें खाकर चारों ओर से निराश हो व्याकुल अवस्था में तड़पने लगता है, और उसका दम घुटने लगता है उस समय कोई अदृश्य दैवीय शक्ति उसे ढारस देती है। नए प्राण बल से अधिक पुष्ट होकर लौटते हैं। 'भूरिति वै प्राणः' प्राणों का भी प्राण वही चराचर जगत् को धारण करता है। डांवांडोल हृदय इस प्रकार ढारस बांध कर देखता है कि आश्रय मिलते ही दुःख दूर हो गए। 'भुव-रित्यपानः' दुःखों से रहित होने के कारण वह प्राणी को

अपनी ओर खींचते ही दुःख रहित कर देता है। 'स्वरिति व्यानः' तब व्यान के समान व्यापक ईश्वर के साथ लग कर जीवात्मा स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यही सुख विशेष की वह अवस्था है, जो सुख स्वरूप के सहवास में मिलती है।

गायत्र रूपी गान बतलाता है कि सारे ब्रह्माण्ड में ज्ञान रूपी यज्ञ ही हो रहा है। उस यज्ञ की पहिली समिधा को यज्ञ कुण्ड में प्रवेश करते ही जीवात्मा को स्थिति मिलती है। तब उसे सन्देह रहित होकर उस महती शक्ति के दर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है जिसके आश्रय से वह स्वयं दुःखों से अलग हुआ है। वह देखता है:—'सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य' जिस ऐश्वर्यवान् जगदुत्पादक प्रकाशमय का अति श्रेष्ठ स्वरूप है—'तत् धीमहि' उसी शुद्ध स्वरूप को धारण करें। ब्रह्म यज्ञ के ज्ञानमय प्रज्वलित कुण्ड में श्रद्धालु उपासक की ओर से यह दूसरी समिधा की भेंट है। इस भेंट के समर्पित करते ही ज्वाला प्रचण्ड होती है और तब जिज्ञासुके हृदयसे यह शब्द निकलते हैं—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (हम उस शुद्ध स्वरूप के दर्शन कर रहे हैं, जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

पृथ्वी और आकाश दोनों के सम्बन्धों को दृढ़ करने वाला वही है। इसी लिए तो उस के भक्त किसी भी सांसारिक शक्ति से भयभीत नहीं होते। समुद्र की उठती हुई लहरों को देखकर अनजान मनुष्य यही समझ लेता है कि वे मुंह बाए उस को निगल जाने के लिए आरही हैं। परन्तु बुद्धिमान्

पुरुष उनके तत्व को जानता हुआ, उन्हीं लहरों को अपना दास बना लेता है और उनकी सहायता से सहस्रों मीलों की यात्रा शीघ्र तै करके अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है यदि समुद्र किसी नियम में ग्रथित न होता तो पृथिवी पर फैलकर सब प्राण धारियों को दबा लेता। परन्तु नियन्ता के नियमों से बंधा हुआ, पृथिवी पर दृढ़ होकर उसको बड़ा लाभ पहुंचा रहा है।

जिस प्रकाश पर संसार का जीवन है और जिसके नानात्व के सौन्दर्य से आकाश की शोभा है, यदि वह छलावे की तरह अस्थिर अवस्था में रहे तो आंखों को चौंधिया दे। जुगनू की चमक बिजली की दमक मनुष्य को चकाचौंध में डाल कर कैसा अस्थिर-चित्त बना देती है? परन्तु सूर्य का स्थिर दृढ़ प्रकाश प्राणधारियों का प्राण रूपी जीवन प्रदान करके मोदमान बना देता है।

जिस परम पिता (पालक) ने समुद्र को पृथिवी पर दृढ़ किया और प्रकाश को अन्तरिक्ष में दृढ़ किया उस गायत्री को तीन समिधा कहती हैं। सूर्यादि प्राण शक्ति डालने वाले और उदानादि मनुष्य शरीर में प्राणों को दृढ़ करने वाले उसी के आश्रय पर काम करते हैं। प्राणों का भी प्राण होने से वह मनुष्यों को दुःखों से रहित करके आनन्द मय बनाता है। यह उसके जागृत पाद की क्रीड़ा है। जागृत में स्तुति द्वारा, मन, वाणी, कर्म से उसे अनुभव करके पहिली समिधा ब्रह्म, यज्ञ कुण्ड में छोड़ी जाती है। तब अपनी निर्बलता का ज्ञान होकर दूसरी प्रार्थना रूपी समिधा हाथ में ली जाती है। उस समय उसका दिव्य, श्रेष्ठ स्वरूप उपासक के सामने आता है और श्रद्धा पूर्वक वह इस दूसरी समिधा को भी

यज्ञ कुण्ड में छोड़ देता है। तब उस दिव्य सौन्दर्य से आकर्षित हुआ उपासक अपने उपास्य देव के समीप पहुंचने के लिये आतुर होकर उपासना रूपी तीसरी समिधा को हाथ में ले लेता है और दिव्य चक्षुओं की प्राप्ति की प्रार्थना के साथ उसे भी यज्ञ कुण्ड के अर्पण करता है।

परन्तु फिर भी पता नहीं लगता कि वह क्या है। 'कस्मै तं ब्रूहि कतमः स्विद्देव सः' वह देव कहां है?। स्तुति प्रार्थना और उपासना द्वारा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं को भी प्राप्त होकर उस के दर्शन नहीं होते। इन तीनों अवस्थाओं से तो वह कहा जाता है. गायत्री तो उस को कहती है, गायत्री की तीन समिधाएं तो उसका पता देती हैं—उसका निज स्वरूप उनके द्वारा नहीं दीखता। परन्तु सब अवस्थाओं से ऊपर अमात्रा रूपी चतुर्थ पाद है। वहीं आत्मा है, जिसे जानना अर्थात् जिसके दर्शन करने चाहियें।

'नान्तः प्रज्ञं न बहि प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञम् नाप्रज्ञम्। अदृष्टय व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्यय सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स विज्ञेयः'। माण्डूक्य उप०।

—०—

उत्तम सन्तान उत्पन्न करो।

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः स सुगोपातमो जनः ॥

ऋ० । मं० १ । सू० ८६ । मं० १ ।

"जिस घर में, विविध पूजनीय कर्मों का कर्ता (सत्य विद्या से) प्रकाशमान् वायु के समान तीक्ष्ण बुद्धि रखने वाला, और रक्षक हो, वहीं पर उत्तम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।"

गृहस्थाश्रम का उद्देश्य और आदर्श दोनों का ही जानना अत्यन्तावश्यक है। मनु भगवान् ने सच कहा है कि जैसे सब नदी नाले समुद्र में जाकर स्थित होते हैं, जैसे समुद्र से भाप उठ कर ही बादल बनते और फिर बरस कर नदी नाले द्वारा उसी में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ से उत्पन्न होकर ब्रह्मचारी बनते और फिर ब्रह्मचर्य का तप पूर्ण करके गृहस्थ में ही विलीन हो जाते हैं। तब गृहस्थाश्रम का उद्देश्य क्या है? सर्व साधारण इस समय भोग की इच्छा से गृहाश्रम में प्रवेश करते हैं। परन्तु यह उनका आचार, अज्ञान में फंसने के कारण, बिगड़ गया है। विवाह का उद्देश्य एक स्त्री व पुरुष के विशेष नियम से बन्धने का मतलब यह नहीं है कि वह विषय भोग में पड़े रहें। विवाह के नियमों में बंध कर गृहाश्रम में प्रवेश करने का उद्देश्य वेद में "उत्तम

मनुष्यों (सन्तान) को उत्पन्न करता है"। इसी वेदाशय को लेकर मनु जी ने कहा है—

"प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।"

पितृ ऋण से मुक्त होना ही गृहस्थ का उद्देश्य है। इसी लिये तो भरत के लोकोपकारार्थ प्रश्न पर मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने कहा था—

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःखदाई।
नर तन पाय विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।

निस्सन्देह गृहस्थ का प्रथम धर्म उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। सन्तान तो सभी उत्पन्न करते हैं। कामी, रोगी, तामसी सभी के सन्तान उत्पन्न होते हैं: परन्तु क्या ऐसी सन्तान को उत्पन्न करने वाला पितृ ऋण से मुक्त हो सकता है? कदापि नहीं। गृहस्थाश्रम तप प्रधान आश्रम है, तपस्वी स्त्री पुरुष ही उत्तम सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

इसीलिए वेद मंत्रों में बतलाया है कि गृहपति कैसा होना चाहिये। गृहपति में पहला गुण यह होना चाहिये कि वह वैदिक कर्मों के पालन में कुशल हो। जो व्यक्ति दोनों काल परमेश्वर का परमोत्तम सत्संग नहीं करता, जो देव यज्ञ द्वारा भौतिक देवों की तृप्ति नहीं करता और उसके द्वारा अपने गृह को रोग रहित स्थान नहीं बनाता, जो नित्य अपने माननीय बड़ों का सत्कार तथा उनकी तृप्ति नहीं करता, जो नित्य ऋषिपूजा का अभ्यासी नहीं और जो दोनों के पालन से विमुख है। वह गृहपति अपने अधीन प्राणधारियों की रक्षा

कैसे कर सकता है? परन्तु कर्मशील होने के लिये आवश्यक है कि सत्य विद्या से हृदय प्रकाशमान हो चुका हो। सूर्य के प्रकाश में निरोग आंखों वाला मनुष्य ही यथावत् देख कर अपनी क्रिया को शुद्ध रख सकता है। अन्धे को सूर्य के प्रकाश में भी ठोकरें ही लगती हैं। परन्तु बहुत से आंखों वाले भी अन्धे ही बने रहते हैं। जो आंख रखते हुए भी सूर्य के प्रकाश में आंख बन्द कर लेते हैं या जिन्हों ने कुकर्मों द्वारा आंखों की ज्योति को मन्द कर लिया हो, उन के लिये ठीक देखना दुस्तर हो जाता है, जिस ने लेट रहना हो उस का शायद बिना सूर्य और बिना आंखों के, कुछ काल तक निर्वाह हो जावे। परन्तु जिसने हिलना जुलना है, जिस ने उस से भी बढ़ कर सोच विचार का काम करना है, उसका निर्वाह बिना सूर्य के प्रकाश और स्वच्छ उज्ज्वल आंखों के एक क्षण भी नहीं हो सकता।

जिन के अन्दर धारणावती तीक्ष्ण बुद्धि नहीं, जिन्हों ने उस तीक्ष्ण धारणावती बुद्धि को वैदिक ज्ञान के अंजन से मांज कर स्वच्छ नहीं किया, और फिर जिन्हों ने अभ्यास द्वारा उस बुद्धि की प्रेरणा और सहायता से कर्म करना नहीं सीखा, उनको गृहाश्रम में प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है।

जिस गृह का उत्तम रक्षक हो उसी में उत्तम सन्तान उत्पन्न हो कर निवास कर सकती है। जब इस आदर्श से कोई व्यक्ति या कोई मनुष्य-समाज गिर जाता है तभी अकल्याण का आरम्भ होता है। पाठक वृन्द! क्या तुमने गृहस्थ के होते हुए कभी अपनी अवस्था पर विचार किया है? यदि तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ नहीं, यदि तुम उसे सत्य ज्ञान से स्थिर

नहीं कर सके यदि, तुम में इतना शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक बल नहीं, कि तुम प्रलोभनों से बच सको और वैदिक पवित्र आज्ञाओं का पालन कर सको, तो तुम्हारा क्या अधिकार कि तुम सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्य क्षेत्र में प्रवेश करो ! क्या ही अच्छा हो यदि आर्यनामधारी, नर नारी अन्ध मशालची की तरह दूसरों को मार्ग दिखाने का साहस छोड़ कर अपनी बुद्धियों को पवित्र करने में लग जायें और प्रतिज्ञा करलें कि जब तक "पूज्यनीय कर्मों के कर्ता" न हो लेंगे तब तक सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्य में परमेश्वर के प्रतिनिधि बनने की धृष्टता भी न करेंगे॥

नेता कैसा हो ?

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः । त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः ॥

ऋ० मं० १ । सू० ९१ । मं० २ ॥

"हे सोम्य गुण युक्त (नेता) आप कर्मवीरों में उत्तम कर्मवीर, बुद्धि निपुणों में भी श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी, सब विद्याओं से विभूषित हो, तभी आप महत्त्वपूर्ण होने से वर्षणीय उत्तम सुखों की वर्षा करने वाले और कीर्तिमानों में प्रशंसित कीर्ति वाले, मनुष्यों के लिये दर्शनीय होते हो। इस लिए इन्हीं गुणों का आप अनुसरण करो।"

संसार नेताओं के पीछे चलता है। एक सत्तात्मक राज्य हो वा प्रजातन्त्रात्मक, बुतपरस्त मज़हब हो या क़बरपरस्त, मरदुमपरस्त मत हो वा खुदापरस्त, सब में नेता ही जनता को पीछे चलाते हैं। महाभारत में ठीक कहा है—"महाजनो येन गताः स पन्था ॥" किस सड़कपर सर्वसाधारण बेखटके चल देते हैं ? जिसपर बनिये महाजन की बहली निर्भय होकर छनछनाती चली जाती है। संसार नेताओं के पीछे चलता है चाहे कितनी भी स्वतन्त्रता की तान तोड़ी जाय। नेता चाहे संसार को डुबा दें और चाहे तार दें; लोग चलेंगे नेताओं के पीछे ही। तब जन साधारण का बार बार यह समझाने का प्रयत्न

करना व्यर्थ है कि व्यक्तियों के पीछे वे न चलें। उनके मन में इस भाव को स्थिर करना कठिन है कि कपटी मक्कार नेता उनको डुबा सकता है। जिन्हें लाठी के बिना चलना नहीं आता उन्हें यह समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है कि कमज़ोर लाठी टूटकर घायल भी करा सकती है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान का काम क्या है? कोई निर्बल लाठी सहारा ढूंढने वालों के सामने ही न आने दे। परमेश्वर बुद्धिमानों का भी बुद्धिमान है। इसलिये उसने मनुष्यों के लिये इस कठिनाई का हल भी बतला दिया। जन साधारण को यह उपदेश देने की अपेक्षा कि वे किसी व्यक्ति विशेष के पीछे ही न चलें क्योंकि उनमें निर्बलतायें हो सकती हैं परमात्मा का उपदेश नेताओं के लिये है।

नेता कौन हो सकता है? वेद उत्तर देता है कि जिसमें नीचे लिखे गुण न हों उसे नेता बनने का साहस नहीं करना चाहिये। प्रथम, नेता में सब सौम्य गुणों का निवास होना चाहिये। जिसका स्वभाव सरल नहीं, जो विपत्तियों का प्रसन्नता पूर्वक सहन नहीं कर सकता, जिसे कष्ट उसके उच्चासन से डिगा सकता है वह नेता होने के योग्य नहीं। आगे उन गुणों की गणना करदी है। लोक संग्रह का कार्य वही कर सकता है जो कर्मवीर हो। अकर्मण्यता के दासों का नेता कुछ भी नहीं कर सकता। नेता का धर्म यही नहीं कि कर्मवीर हो किन्तु उसका यह भी कर्तव्य है कि कर्महीन पुरुषों को कर्मशील बनावे। तब उसे सब कर्मवीरों से भी आगे चलने वाला होना चाहिये, अर्थात् कर्मवीरों में भी उत्तम कर्मवीर होना चाहिये।"

फिर उन कर्मों का प्रयोग बुद्धि पूर्वक होना चाहिये। नेता वह है जो कृष्ण भगवान् के शब्दों में कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद का जाने। जैसे मुक्ति अनेक जन्मों के साधनों से सिद्ध होती है, इसी प्रकार नेता भी अपनी आयु के बड़े भाग को बुद्धि की स्वच्छता में लगाने से ही अग्रणी बनता है। इस बुद्धि की स्वच्छता के लिये सर्व विद्याओं के सार का ज्ञाता होना भी नेता के लिये आवश्यक है। विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है और जब आत्मा शुद्ध होता है तभी मनुष्य परोपकार वृत्ति में निमग्न होकर कर्मफल की आकांक्षा से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान और कर्म को जो मिला देते हैं, जिन के कर्तव्य उन के मन्तव्य के अनुकूल हैं और जिन के मन्तव्यों का आश्रय सत्य ज्ञान है, उन के अन्दर ही निष्काम भाव की उत्पत्ति होती है। नेता ऊपर उठता ही उस समय है जब कर्म फल की आकांक्षा का भाव उस के मन में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। तब उन के द्वारा जन साधारण पर सुखों की वृष्टि होती है। जब तक मनुष्य के अन्दर सकाम भाव काम करता है, तब तक वह संसार को एक सुख पहुंचाने के पश्चात् ठहर जाता है। वह प्रतीक्षा में है कि जनता उसके परोपकार कर्म का आदर करती है वा नहीं। बस, इसी स्थान में नेता की मात है। नेता वही सच्चा है जो परोपकार का काम करके रुक न जाय। लोकैषणा से मुक्त होकर ही नेता जनता को अपने पीछे चला सकता है। कोई स्तुति करे, कोई निन्दा करे, उसे सेवा करते चले जाना है। उसे ठहरना नहीं है, वह जनता पर सुखों की वर्षा करता चला जाय, यदि उसके अन्दर शक्ति है। और सुखों की वर्षा करने की

भी शक्ति न हो तो नेता थक कर आगे कभी नहीं बढ़ना चाहिये।

यह सत्य है कि नेता को लोकैषणासे मुक्त होना चाहिये परन्तु कीर्ति को यह रोक नहीं सकता। फिर भी कीर्तिमानों से उसकी कीर्ति प्रशंसित होगी, क्यों कि वह कीर्ति के पीछे भागने वाला नहीं। जो लोग कीर्ति के पीछे भागते हैं, कीर्ति उन को त्याग देती है। परन्तु जो कीर्ति की परवाह नहीं करते, कीर्ति उन के पीछे भागी फिरती है। यह प्रशंसित कीर्ति नेता के काम में सहायक होती है, क्यों कि उसकी उज्ज्वल कीर्ति को सुन कर आत्मिक तथा मानसिक भूख और पिपासा से सताये हुए जन उसकी शरण में आते हैं और अपनी भूख और प्यास को बुझा कर शान्त चित्त हो परमात्मा की सृष्टि में सुख का राज्य लाते हैं।

संसार के नेताओं को मन, वचन और कर्म द्वारा इस वेदाज्ञा का पाठ करना चाहिए। और यदि उनका जीवन तदनुसार नहीं है तो अपने पिछले किये हुए कर्मों के प्रायश्चित्त के लिये एकान्त में बैठ जाना चाहिये॥

शरण पड़े की लाज।

मानो वधाय हत्नवे जिहीलानस्यरीदधः। माहृणानस्य मन्यवे॥

ऋ० म० १। सू० २५। मं० २।

"जो अज्ञान से हमारा अनादर करे उसे मारने के लिये हम लोगों को, हे जगन्नियन्ता! कभी प्रेरित मत कीजिए। जो हमारे सामने लज्जित हो रहा हो उस पर क्रोध करने के लिए हम लोगों को कभी प्रवृत्त मत कीजिए।"

मनुष्य के जीवन में जितने दुःख सामने आते हैं, उन में से लग भग आधे झूठे आत्मसन्मान के उत्पन्न किये हुए होते हैं। चलते २ अज्ञान से किसी का मोढ़ा भिड़ गया; हमारी हतक होगई। अपने विचार में मग्न चलते हुए विद्यार्थी ने नमस्ते न की अध्यापक की मानहानि होगई। सभा में आते हुए जज साहब को स्वागत करने कोई न उठा, उन की इज्जत में फर्क आगया गरीब जाटों की वाणी में बड़े से बड़े आदमी को "तू" कहने का रिवाज है। एक वकील साहेब के पास जाकर पंजाबी जाट मुकदमे वाले ने कहा—"तू" तो बाबू राजा करण है तेरे क्या परवाह है। गरीबों से थोड़ी फीस ले ले।" बाबू साहिब की इज्जत में फर्क आगया। बोले—मूर्ख क्या बकवास करता है; अदब से बोल!" जाट बेचारा हैरान रह गया—"हैं, बाबू साहिब! इतने लाल पीले क्यों होते हो हम ने तुझे क्या कहा है? तुझे राजा कर्ण ही

तो बनाया है।" हिन्दोस्तानी दोस्त के पंजाबी मित्र ने समझाया कि इन गंवारों की बोली ही ऐसी है।

इतक और बे इज्जती से दुःख क्यों होता है? इस लिये कि हम लोगों ने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है। शरीर के लिये भी कहीं २ सच्छास्त्र में "आत्मा" शब्द का प्रयोग मिलता है। आत्मता ही कुछ दुःखों का मूल है। जो मनुष्य यह समझता है कि वह मुझे अपमानित करके कष्ट पहुंचा सकता है। उसने मेरे अनित्य शरीर को ही सब कुछ समझ छोड़ा है और मुझे भी निरादर और अपमान से दुःख इसी लिए होता है कि मैं शरीर को ही अपना अस्तित्व समझता हूं। दोनों ओर अविद्या ही दुःख का कारण है। यदि मैं वास्तविक स्वरूप को समझ लूं। यदि मुझे यह भी निश्चय हो जाय कि मैं आत्मा हूं और आत्मा नित्य है, तब मुझे मनुष्यों के मानापमान कब हिला सकते हैं। मनु भगवान् ने वेद के उपदेशानुसार ही सच्चे ब्राह्मणों को ताकीद की है कि मान से विष की तरह भागे और अपमान को अमृत की तरह ग्रहण करे। यदि मैं अपने स्वरूप को समझ लूं तो मुझे बे इज्जत करने वाला संसार में कौन उत्पन्न हुआ है, तब मैं हिंसा रूपी पाप में क्यों दिन रात लिप्त रहूं। जिसे तलवार कतर नहीं सकती, जिसे आग जला नहीं सकती जिसे पानी गला नहीं सकता, और जिसे हवा सुखा नहीं सकती, मैं उस की रक्षा के बहाने से उसी का घातक न बनूं? कवि ने सत्य कहा है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और स्वयम् ही वह अपना मित्र है।

जब आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया तब संसार में शत्रु कहां रहा! सब मित्र ही मित्र दिखाई देते हैं। मित्र का

धर्म क्या है? विपत काल में सहायता करना। जब कोई मनुष्य पाप के पंजे में फंसा हुआ विवेक को दबाए रखता है तब उस को उस वेढ़ब पंजे से छुड़ाने के लिये ताड़ना करना धर्म ही है। सद्वैद्य जिस प्रकार फोड़े को नश्तर से चीर कर बीमार का उपकार करता है उसी प्रकार धर्मात्मा सज्जन अविद्या ग्रस्त पापी को उभारने के लिये उचित दण्ड रूपी नश्तर को प्रयोग में लाता है। परन्तु बिना नश्तर लगाए ही बीमार को अपनी बीमारी का ज्ञान हो जाय, यदि मुझे शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुंचाने वाला स्वयम् अपने किये पर पछताये और लज्जावश मेरी ही शरण होने को उद्यत हो तब क्या करना चाहिये। परम पिता अपनी पवित्र वाणी द्वारा उपदेश देते हैं कि ऐसे अपने किये हुए पर पछताने वाले मनुष्यके सामने आकर शरण ढूंढने पर क्रोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

रावण मर्यादा पुरुषोत्तम राम की साध्वी सती धर्मपत्नी सीता को हर कर ले गया। राम ने लंका पर चढ़ाई की। विभीषण ने भाई को समझाया और उसके धर्म नीति के त्यागने पर राम की शरण में चला गया। सुग्रीव के अर्दली, उसे पहरे में रख कर अपने मालिक के पास गये। और सुग्रीव ने रघुकुल के तिलक तक समाचार पहुंचा कर कहाः—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दशानन भाई।
जानि न जाई निसाचर माया।
काम रूप केहि कारण आया।

भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिय बांध मोहि अस भावा।

सुग्रीव ने राजनीति की बात कही थी परन्तु हनुमान राम को बड़ा उच्च पद देते थे। वह ताकने लगे कि राम क्या आज्ञा देते हैं। और उन का उत्तर सुनते ही गद् २ प्रसन्न हो गये।

"सुनि प्रभु वचन हरष हनुमाना।
सरनागत वच्छल भगवाना।

रामने क्या कहा था जिस पर हनुमान के हर्षसे रोमांच हो आये। सुनियेः—

दो० सरनागत कहुं जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पाप मय, तिनहिं विलोकत हानि॥
कोटि विप्र वध लागहि जाहू।
आए शरण तजौं नहिं ताहू।
भेद लेन पठवा दस सीसा।
तबहूं न कछु भय हानि कपीसा॥
जगमहुं सखा निसाचर जेते।
लछमनु हनइ निमप महुं तेते।
जो सभीत आवा सरनाई।
रखिहुं ताहि प्रान की नाई॥"

धन्य हो मर्यादा पुरुषोत्तम! धन्य तुम्हारी विशाल उग्र नीति। तुम्हीं ने वेदों के पवित्र उपदेश को सार्थक किया है।

वेद के दो उपदेश एक मन्त्र से और दोनों ही एक दूसरे से निराले दीखते हैं। परन्तु इन दोनों में घनिष्ट सम्बंध है। संशय के कारण ही मनुष्य अपमान से दुःखी होता है और संशय के कारण ही वह शरण आए पर अत्याचार करता है। संशयात्मा को कुछ भी सुख नहीं हो सकता है। इस लिये परमात्मा से नित्य ही निश्शंक होने का वर मांगना चाहिये।

द्वितीय सोपान।

आत्म-दर्शन।

(१)

बिछुड़े से मिलाप कैसे हो!

दो वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् वकील बड़ा मारके का मुकद्दमा जीत कर आराम चौकी पर लेटा हुआ है, दस वर्षों के निरन्तर प्रयास के पीछे नीतिज्ञ देशभक्त अपने देश के लिए अभीष्ट अधिकार दिला बधाई के सैकड़ों तार प्राप्त करके विश्राम के लिए बैठा है, १५ वर्षों तक अनगिनत सौदों से लाखों कमा साहूकार रोकड़ खाते की जोड़ से शान्ति लाभ करने लगा है। १० वर्षों की लगातार कोशिश से सैनिकबल बढ़ा, बड़ा प्रबल विजय प्राप्त करके सम्राट् दम लेने को एकान्त में विराजमान है। क्या इन में से किसी का भी आत्मा संतुष्ट है? सांसारिक विषयों को सन्तोष का साधन समझते हुए जिन्होंने उन्हीं के पीछे अपनी सारी शक्तियों को लगा दिया, अभीष्ट विषय की प्राप्ति पर उन्होंने भी अपने आपको असन्तोष की ज्वाला में अधिक जलते हुए पाया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते । मनुः ।

विषय भोग की इच्छा विषय भोग से शान्त नहीं होती। जैसे घृत के डालने से अग्नि अधिक ही प्रज्वलित होती है इसी प्रकार विषय भोग से विषय वासना अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है। भूमिहार भूमि के, कृपण धन के, चटोरा स्वादिष्ट भोजन के, यशःकामी यश के पीछे इस लिए नहीं भागते कि इन वस्तुओं को अपना परमोद्देश्य समझते हैं प्रत्युत इस लिए कि जिस अनिर्वचनीय अवस्था को वे प्राप्त होना चाहते हैं, उस का साधन उन्हीं को समझते हैं। शान्त अन्दर वाले को करना है इस लिए बाहर की जो भी वस्तु प्यारी है वह इस लिए है कि उस से (अविद्यावश) अन्दर की शान्ति की सम्भावना हो रही है। परन्तु जब बड़े यत्नों के पश्चात् भी अन्दर वाला शान्त नहीं होता, तब जिज्ञासु का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह उस की ढूंढ में लगता है जिस से मिले बिना शान्ति नहीं हो सकती।

यत्न व्यर्थ है जब तक कि लक्ष्य का पता न लगे। दुःख क्यों है? इस लिए नहीं कि बाहर से अन्य भूत प्राणी आक्रमण करते हैं वा दैवी शक्तियां आधी शीतोष्णादि द्वारा सताती है प्रत्युत इस लिए कि जीवात्मा स्वयं उन में दुःख मानता है। यहां तक कि अन्दर से उठ कर जो शारीरिक और मानसिक रोग मनुष्य को सताते से दिखाई देते हैं वह भी जीवात्मा की अपनी उत्पन्न की हुई घटना है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःख मनुष्य उत्पन्न कर लेता है। अन्य प्राणियों से दुःख किस को होता-

है? जिस का चित्त विक्षिप्त और अशान्त हो। वसन्त ऋतु में भ्रमण रूपी पथ्य का साधन के लिए बाबू जी ब्राह्ममुहूर्त में ही छतरी हाथ में लेकर बाहर निकलते हैं। अभी ५ पग चलते हैं कि सड़क में पड़ा कुत्ता आहट पाकर सिर उठाता और धीमे शब्द से अपना परिचय देता है। बाबू जी भीरु हैं डर कर पैर तेज़ उठाते और छतरी कुत्ते की ओर लपका कर चलते हैं। कुत्ता शेर हो जाता है, भौंकता २ उन के पीछे दौड़ता है। बाबू जी भाग निकलते हैं और कुत्ता उन की टांगें लेने को ही है कि पहरे वाला एक डांट से कुत्ते को भगा देता है। दूसरी ओर क्षत्रिय वीर जंगल में जाता हुआ शेर को अकस्मात् सामने देख निहत्था औसान नहीं छोड़ता और पगड़ी के सिरे में पत्थर बान्धकर घुमाता और ऐसा चक्कर बांध लेता है कि शेर डरकर स्वयं भाग जाता है। जहां हलकी सी वायु और वर्षा की थोड़ी भी बौछाड़ नाज़ुक मिज़ाज नव्वाबों को महीनों पलंग पर लिटाए रखती है वहां आंधी और मूसलाधार में शराबोर होकर भी धर्मोपदेशक संन्यासी का मुख धर्मोपदेश के समय क्यों तेजमय और शान्तिप्रद दिखाई देता है? और रोग का कारण क्या है? अनुभवी पुरुषों ने परीक्षा करके देखा है कि जहां अपने आपको रोगी मानने वाला भला चंगा मनुष्य रोग में ग्रस्त हो जाता है वहां मानसिक बल को उपयोग में लाकर अभ्यासी पुरुष साधारण जुकाम ज्वरादि तो क्या बड़े विकट रोगों को भी दूर भगा देते हैं।

सब दुःख का कारण बाहर नहीं है उसको अन्दर ही ढूंढना चाहिए। परन्तु जनता उलटे रास्ते चल रही है। जो विषयी पुरुष बाह्य विषयों के भोग से ही दुःख की निवृत्ति

मानते हैं उनकी दुर्दशा का ध्यान छोड़ कर यदि ऐसे पुरुषों की ओर दृष्टि डालें जो विषयों से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं तब भी दृश्य दुःखदाई ही दिखाई देता है। जल स्थल मूर्त्यादि में दुःख निवृत्ति की औषध ढूंढ़ने में जो नर नारी लगे हुए हैं उन्हें अन्त का कबीर के शब्दों में कहना पड़ा।

'चलते चलते कमर पिरानी
बात न पूंछी पत्थर पानी ॥'

आप साल कितने स्त्री पुरुष बद्री, केदार, द्वारिका, जगन्नाथ, काशी, अमरनाथ जाते और वहां से अधिक दुःख सहकर लौट आते हैं। मुसलमान जगत् से कितने प्रत्येक वर्ष मक्का और मदीना की 'जियारत' को जाते और जंगली बद्दुओं से लुट कर घर लौटते हैं इन सब की दशा को देखते हुए फिर भी नर नारी क्यों पुनः उसी मार्ग में चल देते हैं?

यह प्रश्न बड़ा गम्भीर और इसका उत्तर भी कठिन प्रतीत होता है। परन्तु जिन्होंने अपनी जान पर खेलकर ढूंढ़ा है उनके लिए इसका उत्तर हाथ बांधे खड़ा है। इस समय बड़े पुरुषों के जीवन चरित्र जिस शैली पर लिखे जाते है उससे जहां कुछ लाभ होता है वहां हानियां भी बड़ी होती हैं। उन बड़े आदमियों के महान चरित्र ही जहां पाठकों को अपनी ओर खींचते हैं वहां उनकी निर्बलताएं पाठकों की अपनी गिरावट के समय शान्तिदायक बहाना बन जाती हैं। प्राचीन आर्यावर्त्त की जीवन लिखने की शैली कुछ विचित्र ही थी। प्राचीन मन्त्र द्रष्टा ऋषि जानते थे कि सूक्ष्म से स्थूल में जाकर मन डांवा डोल हो जाता है। वे जानते

थे कि प्रमाद मनुष्यों को आदर्श तक पहुंचने की कठिनाइयों का सामना नहीं करने देता और इसलिए तप का जीवन छोड़ने के लिए बहाना ढूंढते रहते हैं; इसीलिए न तो वे दूसरे महात्माओं के जीवन चरित्र लिखते और नां ही अपना जीवन वृत्तान्त लिखकर, हम गिरे हुए अभिमानियों की तरह संसार को उलटे मार्ग पर डालने का प्रयत्न करते, वे अपने जीवन के अनुभव का सार जनता के आगे रख जाते थे और वह जीवन चरित्र पढ़ कर फेंक देने के योग्य न होता था। विविध भाषाओं में गत एक शताब्दी के अन्दर ही कितने लाख जीवन चरित्र छपकर मुद्रित हुए। उनमें से कितने हैं जिनको दूसरी बार पढ़ने का किसीने साहस किया? थोड़े ही होंगे जिन्हें एक भी काम के आदमी ने दूसरी बार पढ़ा हो, परन्तु महर्षि पतञ्जलि का लिखा हुआ जीवनसार बुद्धिमान जिज्ञासु बार २ पढ़ते हैं और जितना ऊपर उठते जाते हैं उसके साथ उनका प्रेम अधिक २ बढ़ता जाता है।

पतञ्जलि का जन्म कब और कहां हुआ? उनके माता पिता की योग्यता क्या थी? कुमारावस्था में वह किन व्यसनों में फंसे और कैसे उनकी मृत्यु हुई? ये प्रश्न और इनके उत्तर योग दर्शन की उपस्थिति में किसी विचार शील सज्जन को अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। महर्षि पतञ्जलि का जीवन वृत्तान्त उनके योग दर्शन के अन्दर गठित है और इस प्रकार के एक जीवन वृत्तान्त का वास्तविक पाठ करने से मनुष्य अमर हो जाता है।

ऋषि जीवन से शिक्षा।

ग्रहण करना साधारण मनुष्यों का काम नहीं, परन्तु गिरे से गिरे पुरुष को भी उससे आश्रय अवश्य मिलता है। तीनों प्रकार के तापों से पीड़ित मनुष्य जिन विषयों में सुख मान कर उनकी ओर दौड़ता है, उनमें परिणाम में दुःख देख कर जिज्ञासा छोड़ प्राणी निराश हो जाता है। नास्तिक पन के गढ़े में गिरने का यही भयानक समय हुआ करता है। बिछुड़े हुए से मिलाप के लिए भागता है परन्तु वहां अधिक दुःख होता है तब समझ लेता है कि बिछुड़े हुए का ख्याल भी एक छलावा है। प्रत्येक दौड़ में मृगतृष्णा का ही अनुभव कर उसे भ्रम हो जाता है कि जल का श्रोत कहीं है ही नहीं। ऐसे विकट समय में जब सब शक्तियें शिथिल हो जाती हैं, जब प्यासा जल के अस्तित्व से ही अविश्वासी हो अपने सारे यत्नों को छोड़ बैठता है, उस समय ऋषि का गम्भीर आशा जनक नाद उसे आत्मघात से रोकता है। ऋषि हृदय भेदक शब्द में कहते हैं--

अथ योगानुशासनम्।

प्यारे जिज्ञासु निराश मत हो क्योंकि मैं "अब योग शास्त्र का आरम्भ करता हूं" बारम्बार निराश होते हुए भी जो तुझे कोई प्रबल शक्ति फिर आनन्द की तलाश में घुमाती है क्या यह छलावा है ? यदि शान्ति धाम कहीं न होता तो गिर २ कर बारम्बार तू न उठता। यदि प्रकाश का सागर कहीं न होता तो तेरे अन्दर प्रकाश की बिजली, अन्धकार मय समय में न घूम जाती। प्यारा, अन्दर था, तूने उसको बाहर तलाश की, इतनी ही कसर थी। मैंने उसको देखा

है, मैंने अमृत के स्रोत में स्नान किया है, चल तुझे भी इसकी ओर ले चलूं। परन्तु मिलाप सुगम भी नहीं। तूने उसे साधारण मार्ग समझा परन्तु वह विशेष मार्ग है। साधारण सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहां मार्ग है और उसकी विद्या है, जिसके द्वारा ही उस मार्ग पर चल सकते हैं, उसी प्रकार इस महान उद्देश्य तक पहुंचने के लिए विशेष मार्ग है और उस मार्ग में चलने की विद्या भी विशेष है।

"युज समाधौ" योग समाधि को कहते हैं। सम्यक् प्रकार ध्यान करने से ही लक्ष्य के साथ जुड़ सकते हैं। वह न शरीर का विषय है और न इन्द्रियों का। यदि ऐसा होता तो बाहर भटकते हुए अशान्ति क्यों रहती?

" इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ "

बुद्धि से भी जो अन्तरात्मा परे है उसका ग्रहण चेतनात्मा ही कर सकता है। योग में अभिधेय मुक्ति सागर परमात्मा है। प्रयोजन मुक्ति की प्राप्ति है, और उस योग अर्थात् मुक्ति और उसका मार्ग यह सम्बन्ध है। योग शास्त्र उस सम्बन्ध को बतलाता हुआ मार्ग को भली भांति दिखलाता है। महर्षि पतञ्जलि उसी मार्ग के लिए इस योग शास्त्र का उपदेश करते हैं।

योग क्या है? यद्यपि इसका निर्देश कर चुके हैं। तथापि मार्ग का वर्णन करने से पहिले इसका स्वरूप कहते हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग कहाता है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'।

मन और चित्त कहीं २ पर्यायवाची शब्द ही है। मन जब बहिर्मुख होता और इन्द्रियों द्वारा, विषयों में फंस कर बुद्धि और, यहां तक कि, जीवात्मा को भी बाहिर खींच लेता है तब शान्ति सरोवर, आदित्य स्वरूप से, आत्मा का विछोड़ा हो जाता है। तब क्या सन्देह है कि जब चित्त के बहिर्मुख होने से क्लेशों में फंसावट हुई थी उसीके अन्तर्मुख होने से जहां फंसावट दूर होगी वहां अन्तरात्मा प्रकाश स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। मनुष्य के जागृत का बोधक 'क्षिप्तावस्था' है। संसार में जीवन का चिन्ह तभी समझा जाता है जब कि उस दीपक की तरह जिसे वायु स्पर्श करता है, मनुष्य का चित्त चंचल रहता है। इसी का परिणाम मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाएं हैं। जब काम क्रोधादि के वश में होकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है तब उसे मूढ़ावस्था प्राप्त होती है। वहां तक प्रधान होता है। उससे व्याकुल रज और सत् का आश्रय विक्षिप्तावस्था प्राप्त करने का यत्न करता है जिसमें कुछ सुख का भान होता है। परन्तु सुख के साथ दुःख द्वन्द्व में फंसाकर फिर घबरा देता है, तब मन को एकाग्रावस्था में लेजाकर चित्त को निरुद्धावस्था में टिकाता है। उस निरुद्धावस्था का फल होता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

उस आत्मदर्शन से ही बिछुड़े के साथ मिलाप होगा। जिज्ञासु! उसीके साधनों में लग जाने में कल्याण है।

तुम कहां हो ?

कैसा हृदय वेधक विलाप है ! चञ्चल मनको चुप कराने के लिए बहुत से साधन सोचे। नाच रंग की सभा में फँसकर वहां की धमा चौकड़ी के शोर में मन बहलाने की कोशिश की; परन्तु कुछ काल के पश्चात् दिल से एक दर्द उठा और दर्दनाक आवाज़ फिर उठी—

हृदयेश्वर ! तुम कहां हो ?

इस चिमटी हुई योगिनी से छुटकारा पाने के लिए, इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए, इस गम को गला लिद्ध करने के लिए, चरस का दम लगाया, भंग का लोटा चढ़ाया, शराब की बोतलें ढुलाईं, फिर भी उन्मत्त हृदय से वही मर्म भेदक शब्द निकले—

प्राणपति ! तुम कहां हो ?

शरीर शिथिल हो गया, इन्द्रियों की ज्योति मन्द पड़ गई। अब न तो नाच रंग ही आनन्द देते हैं और नां ही मद्य की आग का सहन हो सकता है। मौत का चित्र सामने खींच कर डाक्टर सब व्यसन छुड़वा देता है। चतुर्थ अवस्था शीघ्र आ पहुंची, जवानी में ही बुढ़ापे ने आघेरा; तब दर्शन शास्त्र (फिलासोफ़ी) की शरण ली गई। कोई सृष्टि कर्ता नहीं, सब आप ही बना और आप ही स्थित है, यह तो सदा से ऐसा ही चला आया है। कर्म फल बच्चों का खेल है। कर्म आप से आप फल देता होगा, नियन्ता कोई नहीं।

दूसरों को समझाने में फिलासफी ने खूब काम दिया, परन्तु जब अपने अन्दर वाले के समझाने का समय आया तो फिर वहां से वही शब्द निकले—

जगत के निर्माता ! तुम कहां हो ?

इन्कार किसी से बन न आया तेरा।

चारों ओर भटकने से निराश हो कर जब बाहर भटकना बन्द कर दिया "अन्दर के पट तब खुलें जब बाहर के पट देय"—अन्दर के पट खुल गए, पहेली बूझी गई। कष्ट क्यों हुआ ? क्लेशों ने क्यों सताया ? इस लिए कि आनन्द को वहां ढूंढा जहां वह नहीं था। अब दृश्य ही बदल गया।

तुम कहां नहीं हो ? आंखें अच्छे रूप के लिए व्याकुल हो रही हैं। उस रूप की ढूंढ में कांटों में घसीटे गए, गढ़ों में ठोकर खा कर गिरे, शरीर छलनी हो गया, कोई स्थान बिना घाव के न बचा। बड़ी मुसीबतें झल कर अभीष्ट रूप के सामने पहुंचे और उसके प्रकाश में आंखों को सेंक उस के भोग की तय्यारी की, तो सौन्दर्य के भण्डार का ही स्वरूप उस में भी देखा। स्त्री वा पुरुष के सौन्दर्य का स्रोत बहाने वाली जगज्जननी के दर्शन हुए। आंखें खुल गईं हाड़ मांस और चर्म में सौन्दर्य कहां ! यदि इन चीजों में सौन्दर्य होता तो चिरस्थायी होना चाहिये। इस सारे खोल के अन्दर और बाहर जगदम्बा का ही सौन्दर्य है। अब आंख का भाव ही बदल गया। जिस रूपवती पर पाप की दृष्टि डालने आया था उस के अन्दर माता के एक रस, न बदलने वाले सौन्दर्य को देख, उसके आगे पूजा भाव से शिर झुक गया और अन्तःकरण से अनायास ही यह शब्द निकले—

जगज्जननी ! तुम कहां नहीं हो ?

कान शब्द में, जिह्वा रस में, नासिका गन्ध में, त्वचा स्पर्श में—एक २ इन्द्रिय अपने विषय में खींच कर ले गई। परन्तु उस से कोई स्थान खाली न पाया। जिस हाथ से चोरी का माल उठाने की चेष्टा हुई है, उस में वह है। जिस वस्तु को चुराने की चेष्टा हुई है उस में वह व्यापक है। कहां चोरी करे ? कहां विषय भोग करे ? कहां कुचेष्टा करे ? कौन सा स्थान है जहां नियन्ता नहीं है। आनन्द तभी तक है जब तक कि सुन्दर विषयों का भोग नहीं किया। विषय को भोगते ही जहां विषय का रूप भयानक बन जाता है वहां आनन्द महा कष्ट में बदल जाता है।

तुम कहां नहीं हो ?

पापी को यह मर्म भेदक शब्द कम्पायमान कर रहे थे, परन्तु जब कोई स्थान उस से खाली नहीं, यह निश्चय हो गया और जब सारा सौन्दर्य उसी के अन्दर स्थित प्रतीत हुआ तब वे ही शब्द गिरे हुए आत्मा का सहारा भी बन जाते हैं।

जंगल में भूला हुआ यात्री भटक रहा है। ज्येष्ठ का अन्त है। कुत्तों ने भी जीभें बाहर निकाल दी हैं, चलते २ प्यास के मारे व्याकुल हो रहा है। बेहोश हो मैदान में गिर पड़ता है। आंखें बन्द और प्यासा मुंह खुला हुआ है। अन्धेरा छा जाता है, वायु का वेग वृक्षों को जड़ से हिला देता है, पानी एक दम बरसने लगता है और शुष्क जिह्वा तर हो जाती है। यात्री शान्त होकर उठ बैठता है, उस के अन्तरात्मा से यह शब्द निकलते हैं।

शान्तिके भण्डार ! तुम कहां नहीं हो ?

भगवन् ? यदि हम, भूले हुए तुम्हारे पुत्र, तुमको अपने अन्दर और बाहर प्रत्येक समय में उपस्थित जाना करें तो फिर हमें क्या किसी अन्य शिक्षा की आवश्यकता है ? पर्वत के शिखर पर हिम की शोभा तुम्हारी शोभा को ही दर्शाती है, हरे २ वृक्षों और वनस्पतियों की तरावट तुम्हारा ही दर्शन कराती है।

उन्मत्त कामी पुरुष को एक देवी के पीछे भागते हुए एक सज्जन ने देखा, देवी की रक्षा के लिये सज्जन भी अग्रसर हुआ। समीप पहुंच कर आश्चर्य का दृश्य देखा। देवी लौट कर निडर चक्षुओं से दुष्ट को देख रही है और दुष्ट आंखों पर हाथ रख कर रो रहा है—"माता जी क्षमा करो, माता जी क्षमा करो।" सज्जन इस दृश्य को देख विमोहित हो खड़ा रह गया और उसके अन्दर से फिर वही प्राण प्रदायक शब्द निकले "जननी तुम कहां नहीं हो ? निस्सन्देह कोई भी परमाणु, कोई भी भाव तुम से खाली नहीं है, तव इस पवित्र भाव के उत्पन्न करने को तुम्हारे विना किस से याचना करूं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'।

कर्म-फल कौन बांटेगा !

भीलों से पाला हुआ वाल्मीकि चोर डाकू बन गया था। अपने सारे परिवार का पालन डाका मार कर ही करता रहा। एक दिन सप्त ऋषियों के धोती लोटे पर हाथ मारना चाहा। ऋषि ने पूछा ऐसा काम क्यों करते हो? डाकू ने उत्तर दिया कि उस के पास परिवार पालन को कोई अन्य साधन नहीं। ऋषि ने पूछाः– क्या इस पाप के फल को तेरे पारिवारिक सम्बन्धी बांट लेंगे, घर वालों से पूछ आ, तेरे लौटने तक हम यहीं रहेंगे। डाकू ने स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू, पुत्री–सब से प्रश्न किया; उत्तर में सब ने यही कहा कि पाप का फल बांटने को कोई भी तय्यार नहीं। डाकू लौट कर ऋषि के चरणों पर गिर पड़ा। ऋषि ने स्वच्छ अन्तः करण डाकू को आत्मोपदेश दिया और वही डाकू तप के प्रभाव से ऋषि और तत्त्व ज्ञानी वाल्मीकि कवि बन गया।

एकः प्रजायते जन्तुः एक एव प्रलीयते।
एको नु भुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होकर अकेला ही मर जाता है। और अपने ही शुभ कर्मों का फल प्राप्त करता तथा दुष्कर्मों का दण्ड भोगता है। क्या इस में कोई हिस्सा ले सकता है? माता के लिये, पत्नी के लिये, सन्तान के लिये क्या कुछ कुकर्म नहीं किए जाते, परन्तु जब दुष्कर्मों के फल के भोग का समय आता है, तो क्या कोई साथी होता है?

देश काल भिन्न होने पर भी अवस्था भेद नहीं होता। जब स्वार्थ परायणता (परिवार भक्ति) का समय था तब घर वालों के लिये पाप कमाए गए, अब देशभक्ति (परोपकार) का समय है तो देश के लिये क्यों न पाप कमाए जांय ? क्या देशभक्ति से पाप का कुछ सम्बन्ध है ? जो सत्य नहीं, जो धर्म नहीं, वह देश हित कैसे हो सकता है ? । पाप और देश हित का सम्बन्ध ही क्या ?

फाबुल की लाम में लाखों के वारे न्यारे किए। छोटों से लेकर बड़े २ अफसरों तक को सैकड़ों और हजारों रिश्वत में दिए, दोस्तों की दावतों में हजारों खर्च कर दिए, शराबों के कन्टर के कन्टर बहा दिये, पत्नी-लड़कों-सम्बन्धियों के बड़े २ प्रसाद खड़े कर दिये, ब्याह शादियों पर रण्डियों, भड़ुओं की भेंट भी सहस्रों किए; परन्तु जब ऊपर से पकड़ हुई, गवर्नमेन्ट ने खोज आरम्भ की और 'ताज़ीरात-ए-हिन्द' की दफा ठुकगई, उस समय न बड़े २ आफसर ही दुःख बटाने को खड़े हुए और नाहीं पत्नी बच्चे सहारा देसके; जेल घर में सीधे बड़े कमसरियट एजन्ट महाशय को ही जाना पड़ा। कम्पनी बना कर लाखों लूट जो सम्बन्धियों और सुधारक संस्थाओं में तुमने लुटा दिए-क्या उन सम्बन्धी और उन संस्थाओं के चालकों ने तुम्हें आत्मघात से बचा लिया ? दुनियां की आंखों में धूल झोंक कर यदि बच भी गए तो सब कर्मों के देखने वाले नियन्ता से बचकर कहां जाओगे? उस की दृष्टि अन्धेरी से अन्धेरी गुप्त कोठरी से भी तुम्हें ढूंढ निकालेगी।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

किये कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। कटौती का कोई काम नहीं। बुरे का बुरा और अच्छे का अच्छा फल भोगना ही पड़ेगा।

——:o:——

हमें कुछ मत कहो, जो कुछ हम करते हैं केवल परोपकार के लिय। देखो! परोपकारी पुरुष इतना बड़ा कालिज चला रहे हैं, लाखों रुपयों की जरूरत है। प्राचीन ब्रह्मचर्य की प्रथा को पुनर्जीवित करने के लिए गुरुकुल खोल दिया है, करोड़ से कम में यह क्या चलेगा? अगर इस तरफ न देखें तो कौन सहायता देगा? माना कि खोतामल का मुक़द्दमा झूठा था हुआ मुकद्दमा हार करके हमने १० हज़ार की डिगरी देदी, लेकिन कालिज को भी १०००) का दान तभी मिला। यह माना कि शराबी कबाबी ठेकेदार की अनुचित प्रशंसा की, लेकिन उस से १५००) नक़द भी तो गुरुकुल के लिये गिनवा लिये। हे, भूले भाइयो! जब आन्तरिक चोट लगने पर तुम्हारा अन्तरात्मा जागेगा और अनुताप की अग्नि तुम्हें जलायगी, तो क्या इन संस्थाओं के संचालक तुम्हारे दुःख को बांट लेंगे?

——:o:——

धर्म की रक्षा के लिये, अधर्मिकों के पराजय के लिए झूठ बोलते हैं, मक्कारी करते हैं, छलछिद्र से भी सहायता लेते हैं, परन्तु कार्य कितना महान है? भोले भाइयो! यदि कभी अपनी अवस्था पर तुम विचार करते और 'सत्य' के शुद्ध स्वरूप को देख सकते तो तुम्हें मालूम हो जाता कि

'सत्य स्वरूप' की सृष्टि में असत्य का राज्य लाना सर्वथा असम्भव है। अधर्म का एक पैसा भी जिस शुभ कार्य में पड़े, उस में गड़ बड़ मच जाती है। सम्पूर्ण श्रेष्ठ कामों का आश्रय 'सत्य स्वरूप' ही है। इसी लिये उसी की शरण ले और उसी पर श्रद्धा रख सब काम सफल हो सकते हैं।

——:o:——

"प्रभु के गुणों का गान करो" शीतल जल, मन्द २ सुगंधित पवन, शरीर को आरोग्य रखने के लिये हमें किस ने प्रदान किए? हरियाली की अद्वितीय शोभा से हमारी आंखों को तरावट किस ने दी? बुरे कार्य में प्रवृत्त होते हुए हमें भयशंका, लज्जाद्वारा नरक कुण्ड में गिरने से कौन बचाता है? उत्तम शिक्षा और पवित्र ज्ञान के भण्डार 'वेद' का हमारे लिए कौन प्रकाश करता है? वही परब्रह्म परमात्मा जो चक्षुओं का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और आत्मा का भी आत्मा है। उसी से हम सब कल्याण मार्ग का ज्ञान पाते हैं? ऐसे पिता ऐसे पालक और रक्षक को भूलना कैसा महापाप है! उस की आज्ञा पालन से मुंह मोड़ना कैसी भारी अविद्या है? उसी परमात्मा का स्मरण करो, उसी के गुणों का गान करो जिसने उत्कृष्ट विद्याओं के भण्डार 'वेद' को तुम्हारे लिए खोल दिया है।

——:o:——

सत्सङ्ग बड़ा उद्धारक है।

हाय, कुसंग ने सर्वनाश कर दिया! कैसे हृदय भेदक शब्द हैं। नगर २ ग्राम २ से यही ध्वनि उठ आकाश मण्डल में गूंज रही है। स्वच्छ हृदय बालक माता की गोद को छोड़, हमजोलियों में जब प्रथम बार प्रवेश करता है तब माता पिता की उस पर कैसी आशाएं बंधती हैं। उसके शरीर की चमक और चेहरे की दमक उनको आल्हादमय बना देती है। शनैः २ बालक का मुख और उसके अंग मलिन होने लगते हैं। विचित्र बातें करने लगता है और उसके कर्म विस्मयोत्पादक हो जाते हैं। माता पिता की आंखें उस समय खुलती हैं जब राजरोग में ग्रस्त हो जाता है। माता विलाप करने लगती है और पिता के मुख से अनायास निकलता है 'अथ दुर्जनसंसर्गे पतिष्यसि पतिष्यसि' पतित युवक व्याकुल हो जाता है, उसकी आंखें भी खुलती हैं और पीड़ा से व्याकुल युवक धाड़ मारकर रोता है और कहता है। 'हाय; कुसंग ने सर्वनाश कर दिया'। उसे कुसंग से घृणा हो जाती है और तब भगवान् की ओर ध्यान जाता है। लुच्चों लुंगाड़ों की संगत में जिस प्रकार मखौल उड़ाये जाते थे आज उसी प्रकार ज्योतिस्तम्भ की ओर टिकटिकी लग रही है, यदि पहिले ही उसका आश्रय लेता तो यह दुःखमय दिन देखना क्यों नसीब होता!

दुःख में तो सब कोई भजे, सुख में भजे न कोय।
एक बार सुख में भजे तो दुःख काहे होय॥

अब तो उसी से लौ लग गई है। युवक की आत्मा उच्च शिखर के केन्द्र में जुड़ गया है। जब तक आत्मा उधर लगा रहा तब तक दुःख भूला रहा, परन्तु उधर से दृष्टि हटते ही दुःख की तरंगों ने आ घेरा। 'यह लहरें भयानक हैं, इनसे किसी तरह पार हो जाऊं. यही युवक विचार रहा है। परन्तु कहां चलें? जिसमें दृष्टिपात मात्र से दुःख भूल जाता है उस शान्तिधाम के पास पहुंचने से कैसी सान्त्वना प्राप्त होगी? किन्तु वहां कैसे पहुंचा जाय?

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः'

वह तो बहुत ऊंचा है। 'चित चाहत है उड़ जाय मिलौं, पै उड़ो नहिं जात विना पर सौं'। पर कहां हैं जिनके आश्रय उड़कर जा मिलूं। न जप किया न तप किया, न यम नियम का पालन किया। कोई भी तो आश्रय नहीं जो ऊपर लेजा सके। इस दुर्गम मार्ग में कैसे निर्वाह होगा? नीचे वही पुरानी कुसंगत, वही पाप की भट्टी दहक रही है और ऊपर शान्तिधाम इतनी दूर! निर्बल गिरा हुआ प्राणी कहां जाय? शान्तिधाम की ऊंचाई देख व्याकुल युवक फिर से उसी भट्टी में गिरने लगता है। दृश्य कैसा भयंकर है?

———o———

युवक अचेत हो गया। पाप की जलती हुई भट्टी में गिरनेही को था कि मधुर स्वरमें निम्न श्लोक सुनाई दिया।

असारसंसारपयोधिमध्ये निमज्जतां सद्भिरुदारवृत्तैः।
महात्मभिः संगतिरेव साध्या नान्यस्तदुत्तारविधावुपायः॥

आखें खुल गई। आगे एक दिव्य मूर्ति दिखाई दी। बाल सारे सफेद हैं, अस्सी वर्ष से कम आयु नहीं, परन्तु चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं; शरीर रक्तमय लाल है परन्तु मुख से शान्ति का स्रोत बह रहा है। बांह बढ़ाकर भट्टी में गिरने से युवक को बचा लेते हैं—"पुत्र! शान्ति स्वरूप के राज्य में तू क्यों व्याकुल है? अमृत के स्रोत की सृष्टि में क्यों मृत्यु की भट्टी में जा रहा है?" युवक उस दिव्य मूर्ति के पीछे हो लेता है और आनन्द भवन में पहुंच कर सन्तों का सहवास करता है। दूसरे ही दिन आश्चर्य से देखता है कि जहां वह कुसंग में दिनों दिन नीचे गिर रहा था वहां सत्संग के प्रभाव से अब बिना पर के ही ऊपर उड़ रहा है। आज से कल उन्नति पर और कल से परसों अधिकाधिक उन्नति की ओर चित्र ही बदल चला है। ठीक है–

शठ सुधरहिं सत संगत पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

———०———

सत्संग की महिमा कौन वर्णन कर सकता है! इसके बिना ब्रह्म प्राप्ति का कोई साधन नहीं। संसार रूपी भवसागर से पार उतरने के लिये सत्संग नौका समान है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता ओर बिना विवेक के मनुष्य पापों और व्यसनों से बच नहीं सकता। माता विदुषी हो तो पहिला उत्तम सत्संग होता है, जो बहुत से गुणों का बीज बालक के हृदय में बो देती है। फिर सदाचारी पिता का सत्संग बालक के अन्दर शुभ आचार का पौदा उगाता है, जिसकी श्रेष्ठ आचार्य मिलने से पूर्ण रक्षा होती है। भाग्य-

शील हैं वे युवक जिन्हें प्रेममयी माता की गोद का सहवास मिला, जिन्हें धर्मात्मा सदाचारी पिता से सहायता मिली और जिन्हें सावित्री के गर्भ में प्रवेश करा के निःस्वार्थ तत्व ज्ञानी आचार्य ने दूसरा जन्म दिया।

परन्तु यह सौभाग्य इस समय थोड़े ही पुरुषों को प्राप्त है। संसार रूपी सागर में बहते हुओं का सत्संग के सिवाय और कोई सहारा नहीं।

आज से ४० वर्ष पहिले सत्संग सभाओं का कुछ पता नहीं लगता। यह विज्ञापनों का युग न था इसीलिए जिज्ञासु को प्रलोभनों से बचकर सत्संग करने के योग्य सज्जनों की तलाश करनी पड़ती थी। इस तलाश में जितना कष्ट होता था उतना ही फल भी स्वादिष्ट और स्वच्छ होता था। आज सत्संग बड़ा सुलभ है। बड़े २ नगरों में तो शाम को सैर करने जाते हुए बीसियों सभाओं के नोटिस मिलते हैं। युवक इच्छानुकूल जिसमें चाहें चले जाते हैं। आज कल सत्संग सुलभ है। जितना ही सुलभ है उतना ही अपमानित भी है।

हे सभाओं के संचालको! तुम्हारा अधिकार बड़ा उच्च है और इसीलिए कर्तव्य बड़ा कठिन और उत्कृष्ट है। लाखों बालकों तथा युवकों के जीवन तुम्हारे आश्रित हैं। क्या तुम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का यत्न न करोगे?

झूठी आशा का त्यागना ही जीवन है।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्।

आशा देवी कैसी बलवती है। अङ्ग ढीले पड़ जांय, शिर श्वेत हो जाय, मुंह में दांत न रहें, बूढ़ा होकर लाठी टेकने लग जाय; फिर भी आशा समूह से मुक्त नहीं होता। आशा का चित्ताकर्षक चित्र केवल इङ्गलैण्ड के कवि कैम्बेल (Campbell) ने ही नहीं खींचा, अपितु प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक समय में कवि इस पर अपना दिमाग लड़ाते रहते हैं। फारसी के एक कवि ने कहा है—"दुनियां व उम्मीद कायम"। संसार चक्र को आशा ही चला रही है।

—:o:—

डेरा इस्माइल खां के वार्षिकोत्सव से निवृत्त होकर दूसरे दिन कूच था। मैं नित्य कर्मों से निवृत्त होकर स्वाध्याय कर रहा था कि सामने एक विचित्र मूर्त्ति आ खड़ी हुई। सिर श्वेत परन्तु दाढ़ी मूंछ झांडी हुई सारे शरीर पर बुढ़ापे का असर था, झुर्रियां पड़ी हुई थीं, अस्थि पञ्जर मात्र, न मुंह में सब दांत और न पेट में आंत, लेकिन सिर पर तिल्लेदार बांकी टोपी, कानों में सोने की बालियां, जिन में शायद सच्चे मोती गड़े हुए, पैरों में कलाबत्तून के काम की जूती। विचित्र मूर्त्ति थी। मैंने आंख उठा कर देखा, परन्तु जवाब न

मिलने पर पढ़ने में लग गया। फिर भी जब मूर्ति सामने से न हटी, तब मैंने कहा—"आइये, बैठिये! क्या आप ब्राह्मण हैं? नमस्ते!" बूढ़े महाशय नमस्ते करके बैठ गये. और पूछा—'आपने कैसे जाना कि मैं ब्राह्मण हूं?' मैंने उत्तर दिया—'आपके अभिवादन में पहल करने से रुकने के कारण।' ब्राह्मण देवता ने गुरुकुल की कुशल पूछी और चुप होगए। मैं भी पढ़ने में लग गया। जब पांच मिनट तक चुप रहा तो ब्राह्मण देवता से न रहा गया बोल उठे—"मैं हकीम हूं, हरिद्वार में भी दो तीन महीने इश्तिहार बांट कर रहा था, लोग पीछे पड़ गये कि हकीम जी यहां ही रहो, परन्तु हम ने कहा कि हमें रुपये कमाने की आवश्यकता नहीं फिर स्वयं उन्होंने परीक्षा देना आरम्भ किया। यूनानी का प्रकरण कण्ठ से सुना कर उन्होंने कहा कि वैद्यक में भी वह विपुण है। यह कह कर भावप्रकाश में दिया हरीतकी का सारा अध्याय तोते की तरह रटा हुआ सुना दिया। इसी पर ही बस न हुई, पश्चिमी चिकित्सा का भी दावा किया और उर्दू के 'मैटीरिया मेडिया' का एक भाग सुनाने लग गए। मैंने बहुतेरा कहा कि मुझ उन के ज्ञान पर विश्वास आ गया, लेकिन उन्होंने एक न सुनी और अपनी सारी कहानी सुना कर दम लिया! फिर भी क्या दम लिया? नहीं, बोले—' आपने पूछा नहीं कि मैंने हरद्वार में क्यों इश्तिहार दिया था।" मैंने उत्तर दिया कि इसकी कुछ आवश्यकता न थी। हकीम जी बोले—" नहीं महाराज, मुझ से तो सब मित्र अपने मुंहसे इश्तिहार सुनना चाहा करते हैं। जब मैं कहता हूं कि लेकर पढ़ लो तो यही कहते हैं कि आपके सुनाने में हमें आनन्द आता है, मैं आप को भी सुना देता हूं।" यह कहा और सारे का

सारा इश्तिहार रटा रटाया, सुना दिया। मैंने कहा—"आप बड़े गुणी हैं।' उत्तर मिला—'आप को अभी हमारे सब गुण मालूम नहीं हुए; हम बाल ब्रह्मचारी हैं। हम ने विवाह ही नहीं किया।" मेरी दृष्टि में उनका मानस्थापन होने लगा और मैंने कहा—'तब तो इस गिरे हुए समय में आप एक आदर्श पुरुष हैं—आप अवश्य गुरुकुल में पधार कर वहां के शिक्षाक्रम का अवलोकन करें।" मेरा कथन सुन कर देवता जी बहुत चकराए और बोले—"मैं तो विवाह करना चाहता हूं। मेरे कई कुएं हैं और भूमि की आमदनी बहुत होती है, एक कठिनाई है, हमारे देश में बट्टे सट्टे का विवाह होता है। जिस घराने में सम्बंध ढूंढता हूं वहीं से उत्तर मिलता है कि हमारे कुमार के लिए लड़की दिलवाओ तो तुम्हारा भी विवाह हो सकता है। परन्तु हमारे कुल में दूर समीप कोई कुमारी लड़की नहीं है फिर विवाह कैसे होता?' फिर मेरी ओर झुक कर धीरे २ बोले—'यदि आपके आस पास कोई ब्राह्मण कन्या हो तो मेरा विवाह करा दीजिए। रुपए की कुछ पर्वाह नहीं हजार दो हजार भी खर्च हो जाय तो तैयार हूं।" ज्यों २ बूढ़ा बोलता जाता था मेरे मुंह पर आश्चर्य और घृणा का भाव स्पष्ट होता जाता था, परन्तु उसे कुछ पता न लगा। मैंने कहा—'महाशय! श्मशान की तैयारी करो, यह क्या बातें कर रहे हो। तुम्हारी आयु क्या विवाह की है?" उत्तर घड़ा घड़ाया था—'आप मेरी आयु क्या समझते हैं? अभी मेरी आयु २५ वर्ष की है। इस से अधिक नहीं।' मैंने कहा—'मैं ६० वर्ष का हूं, मेरे अपने शरीर का मुकाबला करो।' देवता मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए बोले—'अभी चार महीने बहुत बीमार रह चुका हूं, नहीं

तो आप मेरे शरीर को देखते।' फिर न जाने उसे क्या ध्यान आया और खड़े होकर चलते २ बोले—'सच, आप तो गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन कराया करते हैं, आप को विवाह के झगड़ों से क्या वास्ता?' बूढ़ा तो चला गया परन्तु मेरे मुंह से अनायास निकला:—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥

शरीर और शरीर के सब अङ्ग जितना ही शिथिल होते जाते हैं, तृष्णा उतनी ही जवान होती जाती है।

सच है—संसार चक्र आशा के धुरे पर ही चल रहा है। तब क्या आशा ही जीवन है? यदि संसार चक्र में चक्कर काटते रहना जीवन है तब तो आशा ही जीवन हो सकता है। नहीं तो कवि का कथन ठीक ही प्रतीत होता है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशं सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥

बूढ़े हकीम की आशा का कुछ ठिकाना है। मुझे बतलाया गया कि बच्चे तक उसका उपहास करते हैं; परन्तु वह आशा में ही मग्न रहता है।

—:o:—

हम में से कितने हैं जो इस 'आशानन्द' हकीम के अनुयायी नहीं? आशानन्द की कहानी पर सभी पाठक हसेंगे और उस की निर्बुद्धिता पर शोक प्रकट करेंगे, परन्तु

समय आने पर क्या सौ में से एक भी वीर निकलेगा जो तृष्णा का शिकार न होजाय ?

संसार में आधे से ज्यादह दुःखों का कारण झूठी आशा है। टूटी हुई खटिया पर लेटे अफीमची की तरह कितने ही युवक हवाई किले खड़े करते और नित्य उन्हें टूटा हुआ देखते हैं।

नव शिक्षित युवक अपने हाथ में किसी महापुरुष का जीवन चरित्र लेता है, उस का ध्यान उन साधनों और तपों की ओर नहीं खिचता जो तैयारी के समय उस ने किए। यदि चरित्र नायक धार्मिक संशोधक है तो युवक एक दम अपने आप को लाखों का पूज्य देव बना हुआ देखना चाहता है। यदि नैपोलियन का जीवन पढ़ता है तो जागते स्वप्न में एक दम विजयी सेनापति बन जाता है। मुझ से एक ब्रह्मचारी ने बिना किसी भूमिका के पूछा—"हम नैपोलियन कैसे बन सकते हैं?" मैं इसका क्या उत्तर देता? चुपसा रह गया। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारी को क्रियात्मक उत्तर मिल गया, और उसने "आशा" को असली रूप में देख लिया।

---:o:---

आशा दुःख दायिनी नहीं, यदि उस स्वार्थ का आवेश न हो। स्वार्थ ही उसे परम दुःखदाई बना देता है। धर्म परायण मनुष्य कभी झूठी आशा नहीं बांधता, इसीलिये उसे दुःख नहीं होता। बच्चे के मरने का दुःख इसी लिए होता है कि उस के सदा जीते रहने की झूठी आशा बांधी गई थी। व्यापार में १ लाख रुपये की आशा बांधने पर उसे ९० हजार मिलने से जितना दुःख है उतना ही आनन्द उस आदमी को

१०) मिलने से होता है जिस की कभी रुपये कमाने की आशा ही नहीं बंधी थी। संसार में वैसे ही कुछ कम दुःख नहीं हैं, कि आशा बांध कर उन के पूरा न होने से असीम दुःख सागर में डुबाकियां लेता फिरे। मनु भगवान् के इस उपदेश से कि "ब्राह्मण अपमान को अमृत के तुल्य ग्रहण करे और मान से विष की तरह भागता रहे" इस स्थान में शिक्षा लेनी चाहिये। जिस मनुष्य ने अपने किसी काम में आशा का आश्रय नहीं लिया, और झूठी आशा को भी विष के तुल्य त्याग दिया है और जिस ने निराशा को अमृत वत् अपनाया है वही अमर जीवन की ओर चलता है। आशा रहित मनुष्य का जीवन समता का जीवन है, उसमें उतराव चढ़ाव नहीं होता। जहां द्वन्द्व है वहां दुःख है और जहां उतराव चढ़ाव है वहां द्वन्द्व अवश्य है। झूठी आशा बांधना 'कुमति' का चिन्ह है और आशाओं से सर्वथा मुक्त हो जाना 'सुमति' का प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास ने सच कहा है—

जहां सुमति तहं सम्पति नाना।
जहां कुमति तहं विपद निधाना॥

मैं मान्य बन सकता हूं, जगत् में प्रशंसा प्राप्त कर सकता हूं, मुझ में क्या नहीं जो उन मनुष्यों में जिन की कीर्ति सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो रही है? अभिमान से युवक का सिर ऊंचा हो जाता है, सभाओं में जाता है तो करतालिका ध्वनि की आशा में चारों ओर नज़र घुमाता है लेकिन कोई भी उस की ओर आंख भर कर नहीं देखता। जब कुछ समय

पश्चात् एक साधारण आकृति का आदमी सादे, स्वच्छ, स्व-देशी वस्त्र पहिने नीचा शिर किए सब के पीछे बैठने लगता है तो मण्डप में खलबली मच जाती है। गड़ बड़ देख सामयिक प्रधान उस ओर तिरछी निगाह डाल कुछ बोलने को ही है कि आगत साधारण वस्त्र वाले, शिर नीचे किये युवक पर दृष्टि पड़ती है। सारी सभा एक दम उठ खड़ी होती है, करतालिका ध्वनि से सभा मण्डप गूंज उठता है युवक को वेदी पर लाया जाता है और जनता एक स्वर से बोलती है।

'बोलो अनाथों, निराश्रयों के सेवक ब्रह्मचारी सर्वानन्द की जय।' युवक न ग्रेजूएट है, न धनाढ्य है, न बहुत शारीरिक बल रखता है और नांही इस का दिमाग ऊंचे उड़ता है, प्रत्युत नीचा शिर किए, विना किसी फल की आकांक्षा के इस ने प्लेग पीड़ित (माता पिता बन्धु पति पत्नी से त्यागे हुए) नर नारियों की सेवा की है। दिन रात एक करके इस ने कई निराश्रित बालकों को बचाया है। जिन्हें हकीम, वैद्य डाक्टर भी त्याग गए उन्हें अपने प्रेम से मृत्यु मुख में जाते जाते इस ने खींच लिया है। यहां न दलील की जरूरत, न अपील की आवश्यकता; भरे हुए हृदय वह निकले हैं, और उस शुद्धात्मा की परिक्रमा कर रहे हैं।

पाठक वृन्द! श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग तुम्हारे सामने हैं। भगवान् तुम को सुमति दें कि तुम सच्चे मार्ग का ही अवलम्बन करो!

——:o:——

कल्याणकारी सत्य का आचरण करो।

'सांच को आंच नहीं।' 'हम तो खरी २ ही सुनायेंगे, हम कुछ उठा न रक्खेंगे। कोई बिगड़े या कुढ़े, हमें तो ज्यों का त्यों कहने से प्रयोजन है। इन शब्दों से आज भारतवर्ष का नभ मण्डल गूंज रहा है। आज सभी सत्यवादी हैं। सम्पादक और पत्र प्रेरक, उपदेष्टा और अनुगामी सभी सचाई की बुनियाद पर वाग्जाल का प्रासाद खड़ा कर रहे है। चारों ओर से यही शब्द सुन कर युवक को भी साहस हुआ और उस ने समालोचना की रंग भूमि में प्रवेश करते हुए उच्च स्वर से कहा—

सत्ये नास्ति भयं क्वचित् !

युवक आर्य समाज का सभासद् है, दृढ़ वैदिक धर्मी है। फिर पुराने निरर्थक नाम से घृणा क्यों न होती ? 'लद्दूमल' भला यह भी कोई नाम है ! अज्ञान वश माता पिता ने ऐसा नाम रख दिया; अब सार्थक नाम रखेंगे। हमने सत्य के प्रकाश का बीड़ा उठाया है, इस लिए आज से 'सत्यकाम' हमारा नाम हुआ।

महाशय सत्यकाम पग पग पर सचाई की खोज में रहते हैं। एक उपदेशक महाशय एक महिला से बात चीत कर रहे थे। महिला का पति धन कमाने के लिये विदेश में गया

था। ब्रह्मदेश (वर्मा) में वह डाक्टर था, उपदेशक जी अभी ब्रह्मा से प्रचार करके आए हैं। देवी अपने पति का समाचार पूछ रही है। युवक के पास एक पुराने पापी आ पहुंचे और कुहनी मार कर कान में कहा—'कुछ देखा, ऐसे उपदेशक हैं।' युवक चकित सा रह गया। पुराने पापी ने कहा—'देखो औरत का चेहरा प्रसन्न है, पराई स्त्री को यह प्रसन्न करने वाले उपदेशक हैं।' उस समय उपदेशक बतला रहे थे कि देवी के पति डाक्टर साहेब के सदाचार की धूम है और राजरोगी को राजी करने पर उन्हें जनता की ओर से विशेष प्रशंसा पत्र तथा चांदी के इचनपात्र मिले हैं। इस पर देवी का मुख आल्हाद से भर गया था। परन्तु युवक ने पुराने पापी की विषमयी वाणी को सुना और निश्चय कर लिया कि उपदेशक महाशय गिरे हुए व्यभिचारी हैं। पुराने पापी ने चलते समय कहा—'हम लोग तो नीच हैं, हौसला नहीं रखते। आप निडर महात्मा हैं, पाप का भण्डा भोड़ना चाहिये।'

हम सत्य को छिपा नहीं सकते, हम सत्यकाम हैं, हम सारे जहान में इस पाप को प्रसिद्ध कर देंगे। उसी दिन से श्री सत्यकाम जी ने अपने और बेगाने सब में ढिंढोरा पीटना शुरू कर दिया। देवी अपने तीन बच्चों समेत जब दूसरे सप्ताह आर्यसमाज के साधारण अधिवेशन में गई तो स्त्रियों का वर्ताव बदला हुआ देखा, पतिव्रता सती देवी कुछ न समझ सकी। उपदेशक महाशय दौरे पर चले गए। देवी को कोई पूंछने वाला न रहा। प्रधान, मन्त्री सब की त्यारियां बदल गईं और सत्यवादी 'सत्यकाम' का निशान

पूरा हुआ। कृतकार्यता के मद ने अन्धा कर दिया। पुराने पापी ने पगड़ी उतरवानी चाही, उतरवादी। उपदेशक ने लौटकर जब यह जनअपवाद फैला हुआ देखा तो हैरान हो गया। परन्तु कहे क्या? और कहे किससे? यदि एक को समझावे तो वह आगे इस प्रकार बात चलायगा-'घटना तो मानली, शेष भी ठीक ही होगा।'

तीन महीने के बाद डाक्टर साहब ब्रह्मा से लौटे। उनके पास घर का सारा समाचार उपदेशक जी भेजा करते थे। धर्मपत्नी पतिव्रत धर्म पालन में वैसी ही दत्तचित्त थी जैसे पत्निव्रत धर्म पालन में डाक्टरसाहब। घर में बधाई और प्रसन्नता का राज्य हुआ। इस रंग में भंग डालने के लिए पुराने पापी डाक्टर के पास पहुंचे और सत्यकाम की करतूत स्वयं वर्णन करदी। डाक्टर केवल सदाचारी ही न थे, प्रत्युत बुद्धिमान भी थे। उन्होंने सत्यकाम से मिलकर प्रेम पूर्वक सारा हाल पूछा और कहा—"युवक! उपदेशक जी तो मेरे सच्चे भाई हैं, मेरी प्रार्थना पर ही वह मेरे घर का सारा समाचार भेजते रहे। क्या तुमने स्वयं कुछ देखा था सुना था? या तुमने किसी के बहकाने से ऐसा अपवाद फैलाया।" युवक की आंखें खुल गईं, उसे सब कुछ स्मरण हो आया और व्याकुल होकर पूछा—"डाक्टर जी! आप के कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने पाप किया है, परन्तु मैंने जो कुछ कहा अपने ज्ञान के अनुसार सत्य ही कहा, उससे हानि अवश्य बहुत हुई। फिर भी मुझे भ्रम है कि जब अपने अन्तःकरण के निश्चयानुसार मैंने सच बोला तो मैं पापी कैसे हो सकता हूं।"

डाक्टर साहब ने तत्काल ही पातञ्जल योग दर्शन का व्यास भाष्य खोला और द्वितीय साधनपादके सूत्र ३० पर नीचे का भाष्य पढ़ने लगे।

'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।'

'जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहें। जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना चाहिए। दूसरे मनुष्य में अपने ज्ञान की प्रेरणा को जो वचन कहा जाय, वह छल कपट भरा, भ्रम में डालने वाला और निरर्थक न हो। सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कहा गया हो, प्राणियों के नाश के वास्ते न कहा गया हो, यदि यह कहा हुआ वाक्य प्राणियों के नाश का हेतु हो, तो वह सत्य न होगा। उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है। पुण्य के नाम से जो स्वार्थ साधन किया जाता है इस अपुण्य के कृत्य से मनुष्य अत्यन्त कष्ट पाता है। इसलिये परीक्षा करके जिसमें सब प्राणियों का हित हो वह सत्य बोले।

ज्यों २ डाक्टर महाशय भाष्यार्थ पढ़ते जाते थे सत्य-काम की व्याकुलता बढ़ती जाती थी। समाप्ति पर शान्त हो कर उसने डाक्टर महोदय को नमस्कार किया और क्षमा की प्रार्थना की। डाक्टर ने कहा—"प्रिय आर्य युवक! क्षन्तव्य कुछ है ही नहीं तो क्षमा की प्रार्थना क्या! तुमने सत्य का वास्तविक स्वरूप देख लिया, मुझे सब कुछ मिल गया।"

सत्यकाम नदी के किनारे एकान्त में जा बैठा। उसके हृदय पटपर गत तीन चार मास की घटनाओं के चित्र खिचते गए। उसने आश्चर्य से देखा कि जिसे उसने पुण्य समझा था वह अपुण्य ही था। पुण्य पाप की तुलना परमात्मा के लिए है, अल्पज्ञ निर्बल मनुष्य क्या तुलना कर सकेगा?।

सत्यकाम ने उसी समय अपने जीवन पर दृष्टि डाली तो उसमें बीसियों कमियां दिखाई दीं। अपनी निर्बलताओं की सूची देख उसका हृदय भर आया और उसने अपने हृदय को परमात्मा के आगे झुकाकर आत्मसुधार की मानसिक प्रतिज्ञा की, और इस लोकोक्ति का मन से पाठ करता हुआ लौटा—'तुझको पराई क्या पड़ी अपनी नबेड़ तू।'

———o———

आश्रमादाश्रमं गच्छेत्–

"आवश्यकता है चतुर्थाश्रमियों की, जो आर्यसमाज के मन्तव्यानुसार वैदिक धर्म का उपदेश करें !" इस प्रकार के विज्ञापन आज आर्य सामाजिक अखबारों की शोभा को बढ़ा रहे हैं। चित्ताकर्षक और मनोरञ्जक शीर्षक दे दे कर आर्य अखबारों ने सन्यासाश्रम की पूर्ति की आवश्यकता को बड़ी मर्म भेदक अपीलों द्वारा जतलाया। अपील का असर क्या हुआ; यह जानना आवश्यक है।

बूढ़े डिपटी साहिब ५६ वर्ष की आयु में बूढ़ों के नाम की पुकार पढ़ी। बुढ्ढो ! तुम संसार के विषयों में लिप्त हो रहे हो ! बहुत कमाया, बहुत खाया और खिलाया, अब तो कुछ परोपकार कर लो। सन्यास लेना तुम्हारा कार्य है।" आयु के दो वर्ष कम लिखा कर ५६ में ५४ बने हुए डिपटी साहब अभी एक वर्ष की रियायत और लेने की फिकर में थे। अखबार की अपील काम कर गई और नौकरी का समय बढ़ाने की तृष्णा को जवाब देकर पैन्शन लेने को तैयार हो गए। पैन्शन लेकर सीधे अखबार वाले के पास, दीक्षा लेने के विचार से लाहौर पहुंचे तो क्या देखते हैं कि बुढ़ापे पर जवानी की लहर चल रही है और सम्पादकाचार्य जी श्वेतकेश होते हुए भी मूंछों पर मेंहदी लगाए और उन्हें ऊपर चढ़ाए गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। उधर से निराश होकर

धर्म की प्यास बुझाने के लिए आर्य सामाजिक वृद्ध पुरुषों की ओर झुके और उपनिषद् तथा योग का सार जानना चाहा, वहां किसे अवकाश था ? बूढ़े से बूढ़े वोटों (votes) के हासिल करने और विपक्षी दल को गिराने की फिकर में लगा हुआ है। तब बूढ़ा पैन्शनर एक ठण्डी सांस भर कर लौट आया और फिर उस ने आर्य समाज का द्वार न देखा।

बूढ़े डिपटी का दृष्टान्त आगे रख कर एक 'पुर जोश नौजवान' अधिकार पर प्राण देने वाले एक पैन्शनर के पास पहुंचा और विवश होकर बोला 'कैसा सच्चा सज्जन, रज, धर्म की रक्षा के लिए मिल रहा था। आपस का लड़ाई झगड़ा देख समाज से उपराम होकर चला गया। यह पाप किसके सिर चढ़ेगा? पैन्शनर अधिकारी बोले 'अरे छोकरे! जब हम सरकारी नौकरी करते थे तब तो हमारे पीछे पड़ कर तुम लोगों ने हमें यहां बुलाया अब हमें चला बतलाना चाहते हो। अरे! सामाजिक क्षेत्र में तो जवानी हम पर अब चढ़ी है, अब कैसे छोड़ दें।' युवक निराश होकर लौट आया।

बूढ़े सम्पादकाचार्य की अपील जब कुछ फल न लाई तो जवान सम्पादक ने अपील शुरु की 'आर्य समाज के नौनिहालो! सब कुछ तुम्हीं ने करना है। जब बूढ़े नहीं हिलते तो तुम मैदान में निकलो और सन्यास लेकर अपना तन, मन, धन वैदिक धर्म पर न्योछावर कर दो। बूढ़ों की प्रतीक्षा मत करो। ऋषि दयानन्द ने कब गृहस्थ लिया था?

यदि वह बुढ़ापे की प्रतीक्षा करते तो धर्म प्रचार कैसे होता!' नौजवान उपस्नातक (Under graduate) को जोश आया और वह दृढ़ व्रती होने के लिए सम्पादक महाशय की शरण में पहुंचे। वहां वेतन के १५०) गिनवाए जारहे थे। गृहस्थ के सब भोग विद्यमान थे। बिरादरी के साथ सम्बंध स्थिर रखने की सभाएं हो रही थीं। विपक्षी अखबारनवीस के विरुद्ध मन्सूबे गढ़े जा रहे थे। युवक स्तंभित हो गया; क्या पूछे और किस से पूछे? युवक की यह दशा देख एक अनुभवी स्वतन्त्र विचारक ने पूछा 'युवक! आश्चर्य में क्यों डूब रहे हो? क्या अचम्भा देखा?' युवक ने उत्तर दिया 'महाराज! अचम्भे की क्या कहूं? इन सम्पादक जी की दर्दनाक अपील पढ़ मैं सन्यास लेने आया था; यहां का रंग ढंग देख कर विस्मित हो गया हूं। अन्धा अन्धे का पथप्रदर्शक कैसे बनेगा? इन्हें देखकर कौन युवक सन्यासी होगा?' स्वतन्त्र विचारक बोले 'तुम ने क्या तुलसी कृत रामायण कहीं पढ़ी? नहीं, तो अब पढ़ो। गुसाईं जी लिखते हैं—

'नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूंड मुंडाय भये सन्यासी॥'

इनकी धर्म पत्नी जीवित है, बिरादरी में मान है, परमेश्वर की दया से घर में ऋद्धि, सिद्धि सभी कुछ है, फिर यह सन्यासी कैसे हों? युवक निराश हो लौटा और पढ़ाई में चित्त लगाने को तैयार हुआ। लेकिन उखड़ा दिल क्या फिर जमता है! युवक के मानसपट पर उस कृतकार्यता का चित्र अंकित हो चुका था जो कि उसे होने वाली थी। एक सुन्दर युवक, केश छेदन कराए और भगवां चोला पहिने सभा-

मण्डप में पहुंचता है, कर तालिका ध्वनि से सभा मण्डप गूंज उठता है। सन्यासी निडर हो बुराइयों पर कोड़े लगा रहा है और जनता चित्रवत् बैठी है, पापी अनुताप कर रहे हैं और उनके जीवनों में पलटा भी आ रहा है। कहां वह दिव्य चित्र! और कहां किरोसीन लैम्प के सामने फिर से रटना!

व्याकुल युवक घर जाकर भी कुछ पढ़ लिख न सका। एक दम शिखर से गिर पड़ना किसे व्याकुल नहीं कर देता! एक वृद्ध वैदिक धर्मी सज्जन जो समाचार पत्रों और सामाजिक झगड़ों से अलग हैं युवक के अन्दर आए परिवर्तन को देखते हैं। एकान्त में लेजा बड़े प्रेम और सहानुभूति से बातें करते हुए उसका सारा हाल जान लेते हैं। एक उच्च विचार उठा कर उसे नीचे पटक देना युवक को पाप कर्म प्रतीत होता है, इसी लिए वह उदासीन है। वृद्ध महाशय उसे अपने घर लेजाकर मनुस्मृति देते हैं। युवक पढ़ता है—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥

"जो सन्यासी बुरे कर्मों से इन्द्रिय निरोध, राग द्वेषादि दोषों का क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण

करता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। मूर्खों से दूषित किए हुए भी जो धर्म करता है वह चाहे किसी आश्रम में हो, समदर्शी होने से सन्यासी है। केवल धर्म चिन्ह (काषाय वस्त्र) धर्म का कारण नहीं।'' युवक के पुराने संस्कार जाग उठे और वह गाने लगा—' जब रंगा नहीं उस रंग में तो क्या गहने रंगने से।' वृद्ध ने गद् २ होकर आशीर्वाद दिया और युवक विदा हो अपने मन्तव्य में लग गया।

तृतीय सोपान ।

व्यष्टि तथा समष्टि धर्म ।

स्फुट लेख

(१)

स्वाध्याय के बाह्य नियम ।

यजुर्वेद के तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वितीय अनुवाक में शिक्षा की व्याख्या की है—

"ओम्–शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शिक्षाध्यायः" ।

अर्थ—परमात्मा का निज नाम लेकर शिक्षा हम कहेंगे। (हे शिष्यो सुनो !) अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्रा, आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न, शान्ति पूर्वक मध्यम वृत्ति से वर्णों का उच्चारण और परस्पर वर्णों का मेल (संहिता) इस प्रकार से शिक्षाध्याय कहा है ।

गुरु के वाक्यों को सुनकर शिष्य शिक्षा लेना आरम्भ करता है । तब आरम्भ में ओम् का ध्यान करके मङ्गलाचरण करता है—"सहनौ यशः सहनौ ब्रह्मवर्चसम्" । हम दोनों

शिष्य और गुरु—का यश साथ ही प्रचरित रहे और हम दोनों का ब्रह्म तेज (वेद से प्राप्त हुआ तेज) साथ ही हो।" अर्थात् स्वाध्याय का आरम्भ करने के पहिले शिष्य को श्रद्धा पूर्वक यह वाक्य बोलने चाहियें।

अब देखना चाहिये कि यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में (कात्यायन ऋषि ने) क्या उपदेश दिया है। प्रातिशाख्य के प्रथम भाग में पहिले शब्द, रूप, प्रयत्न स्थानादिका वर्णन करके सोलहवें सूत्र में कहते हैं।

ओङ्कारं स्वाध्यायादौ।

स्वाध्याय का आरम्भ ओङ्कार पूर्वक करना चाहिए, यह सूत्र का तात्पर्य है। मनु महाराज ने भी कहा है।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥

॥ अ० २। श्लो० ७४॥

'वेद पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव (ओ३म्) का उच्चारण करे और अन्त में भी। यदि पूर्व में और अन्त में प्रणव का उच्चारण न करे तो उस का पढ़ा हुआ धीरे २ नष्ट हो जाता है।' यह ठीक ही है। जो पाठ श्रद्धा के बिना किया जाता है उस का स्मरण चिरस्थायी नहीं होता। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है:—

ओङ्काराथकारौ ॥ १७॥

स्वाध्याय के आदि में जो ओंकार के उच्चारण की प्रतिज्ञा है वह अखण्डय नहीं क्यों कि उस के तुल्य ही फल 'अथ' शब्द का भी है। मनु ने भी कहा है—

ओंकारश्चाथकारश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलावुभौ ॥

यह ठीक है परन्तु इन में से—

ओङ्कारं वेदेषु ॥ १८ ॥

ओंकार का उच्चारण वेद के स्वाध्याय के आदि में करने की ही विधि है । और—

अथकारं भाष्येषु ॥ १९ ॥

भाष्य के स्वाध्याय की आदि में " अथ ' शब्द के प्रयोग की विधि है । चार संहिता मूल-वेद के अतिरिक्त जितने भी (ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, उपाङ्गादि) ग्रन्थ हैं वे सब वेद के भाष्य रूप हैं ।

अब स्वाध्याय की तय्यारी का वर्णन है ।

प्रयतः ॥ २० ॥

स्वाध्याय के प्रयत्न के बाह्य साधन क्या हैं ? इस पर भाष्यकार ' उव्वट ' कहते हैं—'प्रयतः शुचिरुच्यते; पाद-शौचाचमनादिना शुचिरधीयीतेत्यर्थः' ॥ स्वाध्याय का आरम्भ करने से पहिले हाथ पैर आदि धोकर आचमन से कण्ठ शुद्धि करनी चाहिए । फिर—

शुचौ ॥ २१ ॥

शुद्ध तथा एकान्त देश में अध्ययन करना चाहिए । न केवल अकेले विद्यार्थी के लिये एकान्त देश में अध्ययन करने की विधि है प्रत्युत गुरुकुल तथा अन्य विश्वविद्यालय भी स्वच्छ एकान्त देश में होने चाहिये । इस का फल आत्मा

की शुद्धि होगा और विना आत्मा शुद्धि के स्वाध्याय का उद्देश्य ही प्राप्त नहीं होना। इसी लिए कहा है—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥

जब आत्मा को स्थिर कर लिया और एकान्त स्थान भी प्राप्त हो गया तब आसन की विधि कही जाती है—

इष्टम् ॥ २२ ॥

जिस आसन (बैठने का प्रकार) बैठ कर स्वाध्याय में विघ्न न पड़े, उसी आसन का अभ्यास करना चाहिये। औंधे लेट कर कोई पुरुष सूक्ष्म विचारों को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकता; जैसे आराम चौकी पर बैठ कर व्यायाम करने की चेष्टा निष्फल है। इस लिए ऐसे आसन पर बैठ कर स्वाध्याय करना चाहिए जिस से स्वाध्याय में विघ्न न होकर पूरी सफलता प्राप्त हो।

परन्तु क्या सब ऋतुओं में एकसा स्वाध्याय हो सकता है? नहीं! ऋतु भेद से स्वाध्याय के समय में भी परिवर्तन होगा। दृष्टान्त के तौर पर सूत्रकार कहते हैं—

ऋतुं प्राप्य ॥ २३ ॥

भाष्य—'हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयीत' हेमन्त (बहुत जाड़े की) ऋतु में रात के चौथे पहर उठ कर पढ़े।' इस से स्पष्ट विदित होता है कि हेमन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य सब ऋतुओं में रात को पढ़ना मना है, और उस ऋतु में भी पहिली रात पढ़ने के लिये वर्जित है। फिर पढ़ने में विशेष नियम का पालन—

'योजनान्न परम् । २४ ।

भाष्य—"अधीयानो योजनात् परमध्वानं न गच्छेत्' अर्थात् पढ़ते हुए १ योजन से आगे न जावें।" यह विधि विचित्र प्रतीत होगी। परन्तु जब यह नियम है कि गुरुकुल नगर से १ योजन की दूरी पर होना चाहिए, तब समझ में आ जाता है कि जहां भ्रमण करता हुआ पाठ पर विचार करता रहे वहां विचारते २ सीमा से बाहिर न निकल जावे। विद्यार्थी जीवन में भोजन कैसा करना चाहिए—

भोजनं मधुरं स्निग्धम् । २५ ।

भाष्य-'मधुररसप्रायं घृतप्रायं चान्नं भुञ्जीत" अर्थात् मधुर रस प्रधान और घृत प्रधान अन्न का भोजन करना चाहिए। रूखा, तीखा, खट्टा आदि भोजन का तो मधुर शब्द से ही खण्डन हो गया फिर भी जहां मस्तिष्क को ठीक रखने तथा शारीरिक बल की स्थिरता के लिए घृत की आवश्यकता है वहां रस प्रधान भाजी दाल आदि के सेवन से गरिष्ठ भोजन का भी निषेध हो गया। ब्रह्मचारी के लिए सब प्रकार के हानिकारक तथा काम क्रोधादि को उत्तेजित करने वाले भोजन मना हैं।

सन्यास विच्छेद वा उद्धार ?

वर्णाश्रम व्यवस्था वैदिक धर्म का मौलिक सिद्धान्त है। आर्य सभ्यता का यही आधार था और संसार की अन्य सभ्यताओं से इसका भेद जतलाने वाला यही मुख्य धर्म है। इसलिए यदि आर्य वैदिक धर्म की सामायिक स्थिति का पता लगानी हो तो यह जानने की आवश्यकता है कि उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था की क्या दशा है।

वर्णों की इस समय क्या दशा है? इसपर कई वार विचार हो चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की व्यवस्था गुण कर्मानुसार इस समय नहीं होती, यह सभी विचार शील सज्जन मानते हैं और इसी के साथ यह भी अनुभव कर रहे हैं कि गृहस्थाश्रम की अधोगति का कारण भी यही है। जन्म पर जातियों का निर्भर जिस देशमें हो वहां अराजकता (Anarchism) और नास्तिक पन (Nihilism) का राज्य हो जाता है। योरोप और अमेरिका में जहां २ अशासन और नास्तिकपन का दौर दौरा दिखाई देता है वहां इसका कारण धनियों, अमीरों, तथा राजकुमारों के स्वार्थ में ही ढूढ़ना पड़ता है। भारतवर्ष में भी इस समय अराजकता तथा नास्तिकपन को दूर करने के लिये एक साधन है, और वह यह कि जातपात के गढ़ को चकनाचूर करके गुण कर्मानुसार वैदिक वर्ण व्यवस्था की फिर से स्थापना की जाय।

यह काम इस समय बड़ा कठिन प्रतीत होता है। ब्रह्म, समाज, भ्रातृ समाज यह समाज और वह समाज यहां तक कि आर्य समाज भी वेद शास्त्र का शस्त्र हाथ में लेकर प्रयत्न कर चुका, परन्तु किसी का भी वश न चला। विरादरियों के मगर मच्छों ने इन सबको पेट में धरकर डकार तक न ली। बड़े २ जोशीले सुधारक नोजवान जब विरादरी के सामने हुए तो उसकी एक झपट सहने की भी उनमें शक्ति न दिखाई दी। उस समय समझ में आया कि जिसकी बुनियाद खोखली हो वह प्रासाद कबतक खड़ा रह सकता है? जहां ब्रह्मचर्य रूपी कंकरीट ही बुनियाद में नहीं कूटा गया वहां गृहस्थ रूपी महल कैसे ठहर सकता है? आर्य जनता की आंखें खुल गईं।

चारों ओर से ब्रह्मचर्याश्रमों के खोलने की पुकार मच-गई। गुरुकुल खुले और काम होने लगा। गुरुकुल कांगड़ी में वायुमण्डल ही ऐसा उत्पन्न हो गया कि देखने वालों की दृष्टि में वैदिक वर्ण व्यवस्था की स्थापना तथा पुनरुद्धार का समय समीप दिखाई देता है। परन्तु परिणाम यहां भी निक-लता दिखाई नहीं देता यदि सावधान हो कर काम न किया गया। अपने २ परिवारों के प्रभाव यहां के स्नातकों पर भी शीघ्र पड़ते हैं। जिनके माता पिता दृढ़ सुधारक हों, उन्हीं से सुधार हुआ है। अन्य किसी का भी यह दृश्य दिखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ कि वह धर्म पर रहे, नियम भाव से अपने मन्तव्य को कार्य में परिणत कर सकें।

गृहस्थ की व्यवस्था ठीक नहीं—उस का प्रभाव ब्रह्मचर्याश्रम पर बिना पड़े नहीं रह सकता। यह अव्यवस्था कैसे दूर हो ?

इस प्रश्न का उत्तर भी हमें प्राचीन काल में ही ढूंढना पड़ेगा। आर्य जाति में जब २ धर्म मर्यादा से जनता डावांडोल हो च्युत होने लगी तभी २ उस मर्यादा को स्थिर रखने के लिये चतुर्थाश्रमी सन्यासियों ने ही बीड़ा उठाया। इस समय भी ब्रह्मचर्य और गृहस्थ की बिगड़ी दशा को मर्यादा में बांधने और निर्भय हो धर्म प्रचार करने के लिए संन्यासी ही आगे होने चाहिए थे। परन्तु संन्यासाश्रम की इस समय क्या अवस्था है ? भगवान् कृष्ण ने कहा है:—

'काम्यानां कर्मणां न्यासं स न्यासं कवयो विदुः'

आज कल हम गृहस्थियों से बढ़कर संन्यासियों को कामनाओं का दास देखते हैं। आर्य समाज ने जो संन्यासी उत्पन्न किए और ऋषिदयानन्द ने जो संन्यास का लक्षण बतलाया उस पर विचार करना पीछे के लिए छोड़ कर यहां यह दिखलाना अभीष्ट है कि जिन शंकराचार्य महाराज के आदेशानुसार आज कल के बालक दशनामी संन्यास धारण करते हैं उन के मत में भी संन्यासाश्रम का क्या गौरव था।

चतुर्थाश्रम को संन्यासाश्रम कहते हैं उस में रहने वालों के, धर्म भेद से १० नाम हैं। बृहच्छङ्कर विजय में इस का इस प्रकार वर्णन है:—

'तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः ।
सरस्वतीभारती च पुरीति दश कीर्तिताः ॥'

अर्थ—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी यह दस प्रकारके संन्यासी हैं। अब क्रमशः उन में से भी प्रत्येक का लक्षण करते हैं—

१. तीर्थ लक्षण—

त्रिवेणी संगमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात्तत्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते॥

अर्थ—'तत्वमसि' आदि महावाक्य जिसका स्वरूप है, त्रिवेणी संगम तीर्थ में सत्य वाक्यार्थ को समझ कर जो स्नान करता है, उस को तीर्थ—सन्यासी कहते हैं।

२. आश्रम लक्षण—

'आश्रमग्रहणे प्रौढ़े आशापाशविवर्जितः।
यातायातविनिर्मुक्त एतदाश्रमलक्षणम्॥'

अर्थ—आशा आदि बन्धनों से रहित व्यावहारिक गमनागमन से पृथक् सन्यासाश्रम ग्रहण में उत्कट इच्छा वाला, आश्रम नामका सन्यासी कहाता है।

३. वन लक्षण—

'सुरम्ये निर्झरे देशे वने वासं करोति यः।
आशापाशविनिर्मुक्तः वननामा स उच्यते॥'

वन में शान्त रमणीय जलमय प्रदेश में सब आशाओं को छोड़ कर जो वास करता है उसे 'वन' नामक सन्यासी कहते हैं।

४. अरण्य लक्षण—

'अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्द नन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्वं अरण्यं लक्षणं किल॥'

अर्थ—सांसारिक सब पदार्थों को छोड़ कर आनंद प्रद उत्तम वन में जो नित्य निवास करता है वह 'अरण्य' नामक सन्यासी कहाता है।

५. गिरि लक्षण—

'वासो गिरिवरे नित्यं गीताभ्यासे हि तत्परः।
गम्भीराऽचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥'

अर्थ—उत्तम पर्वत में जिसका निवास हो और गीता का अभ्यास करता हो, स्थिर बुद्धि, दूरदर्शी 'गिरि' नामका सन्यासी होता है।

६. पर्वत लक्षण—

'वसेत्पर्वतमूलेषु प्रौढ़ो यो ध्यानधारणात्।
सारात्सारं विजानाति पर्वतः परिकीर्तितः॥'

अर्थ—जो पर्वत गुफाओं में रहता हुआ ध्यान धारण (योगशास्त्रोक्त) से अचल होकर सार को (वल बुद्धि वैभव से परमात्मा को) जनता है वह 'पर्वत' नामी

७. सागर लक्षण

'वसेत्सागरगम्भीरो न च रत्नपरिग्रहः।
मर्यादाश्च न लंघेत सागरः परिकीर्तितः॥'

अर्थ—समुद्रके समान गम्भीर, धनरत्न आदिका न लेने वाला और शास्त्रीय मर्यादा में रहने वाला 'सागर' नामक सन्यासी कहाता है।

८. सरस्वती लक्षण

स्वरज्ञानवशो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः ।
संसारसागेर साराभिज्ञो यो हि सरस्वती ॥'

अर्थ—स्वरोदयके जानने वाला और स्वरके बल से रहने वाला संसार समुद्रके पारको परखने वाला 'सरस्वती' नामक सन्यासी कहाता है।

९. भारती लक्षण

'विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभारं परित्यजेत् ।
दुःखभारं न जानाति 'भारती' परिकीर्तितः ॥'

अर्थ—ज्ञानभार से पूर्ण सांसारिक सर्वभारोंको छोड़ता हुआ जो मनुष्य दुःख सुख को कुछ नहीं समझता। वह 'भारती' नामक सन्यासी कहाता है।

१०. पुरी लक्षण

'ज्ञानतत्वेन सम्पूर्ण पूर्णतत्त्वपदे स्थितः ।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते ॥'

अर्थ—यथार्थ ज्ञानको उपलब्धकर पूर्णज्ञानी, स्वरूपको पहिचानने वाला, परब्रह्ममें सर्वदा लीन रहने वाला 'पुरी' नामक सन्यासी कहलाता है।

शंकर स्वामीने इन दश नामोंमेंसे किसी को भी स्वय ग्रहण नहीं किया था। उनके पीछे विद्यारण्य स्वामी ने ही बुनियाद डाली प्रतीत होती है। उन्होंने जिसलिये यह नाम-भेद किया वह गतांकके छः श्लोकोंसे विदित है। परन्तु आज

क्या दशा है ? अनादित्रय के मानने वाले आर्यसामाजिक पंडितभी लोभके कारण यदि सन्यास लेते हैं तो वह भी तीर्थ की उपाधि धारण करते हैं, तब क्या 'तत्वमसि' आदि नवीन वेदान्तियों के माने हुए महावाक्यों पर उनका विश्वास है ! विश्वास से क्या मतलब ! यहां तो काम चलाने से मतलब है। विशेषाश्रम नामधारी जिन व्यक्तियों को व्यवहार से अलग हो, आशा पाश से मुक्त हो, हरि भजन करना चाहिये था, वे स्वयं तृष्णा के दास बन रहे हैं। 'वन' नामधारी कामाश्रमों में निवास कर रहे हैं। आनन्द रूपी 'अरण्य' में जिनका निवास होना चाहिये था उन्हें राज रोगों से पीड़ित होकर हाहाकार मचाते देखा गया है। गिरियों को गम्भीर और अचल बुद्धि धारण किये गीताभ्यास रत देखनेके स्थान में छुरी चलाते और बदमाशों में नाम लिखाते पकड़ा गया है। 'पर्वत' गुफाओं में रहने के स्थान में हुण्डी पत्री की कोठियां चला रहे हैं। समुद्र नाम धारियों ने समुद्र से गंभीर भाव को त्याग कर मत विरोध के कारण दिन रात गाली देना ही अपना नैत्यिक कर्म बना लिया है। स्वरवादी कवीश्वर के स्थान में निगुरे अक्षर शून्यों ने सरस्वती की उपाधि धारण करली है। 'भारती' संसार को भार से मुक्त कराने के स्थान में मनुष्य जाति पर अधिक बोझ बन रहे हैं 'पुरी' पूर्ण ब्रह्म से लीन होने के स्थान में, मूर्तियोंके पुजारी और आना रुपया व्याज पर ऋण चढ़ाने की चिन्ता में निमग्न हैं।

वर्तमान नामधारियों की यह दशा देख-कर ही शायद बाबा नानक के अवधूत पुत्र ने उदासीन होकर इन से किनारा किया था; परन्तु वहां भी उदासियों के छोटे बड़े,

और मंझले अखाड़े के साथ निर्मले आदि अनेक पन्थाई मठ बना बैठे हैं। वैरागियों की 'रामासरे' जुदी ही अपनी धूनी जल रही हैं। 'दादूपन्थी' 'कबीर पन्थी' 'सुथरे शाही' इत्यादि अनेक कुपन्थियों की भरमार है। इनमें से शायद ही कोई ऐसा हो जो शास्त्र के विचार में अपना थोड़ा सा भी समय व्यतीत करता हो, इन सब साधुओं में प्रतिशतक एक भी साक्षर साधु कठिनाई से दिखाई देता है, और वह भी अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए हैं। दीन गृहस्थों से टुकड़ा छीन कर लाखों निकम्मे भंगवें पोश पल रहे हैं और बदले में उन करोड़ों लुटे हुए दीन गृहस्थों का एक नेक सलाह भी नहीं देते। धर्म की मर्यादा स्थापन करने के स्थान में अधर्म और अराजकता का राज्य फैला रहे हैं। उत्तम से उत्तम योग्य पदार्थ जिन्हें प्राप्त हों वे इन्द्रियों को कैसे वश में कर सकते हैं?।

इसी दुर्दशा को देख कर सैकड़ों विचारशील पुरुष, पुकार उठते हैं कि सन्यास आश्रम को समूल ही नष्ट कर देना चाहिए। उनकी सम्मति में भंगवी सृष्टि के मूलोच्छेद में ही भारत का कल्याण है। परन्तु वह एक बात भूल जाते हैं, चार आश्रमों का विभाग, स्वाभाविक तथा आवश्यक है. इस लिए सन्यास का मूलोच्छेद भी मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इस के साथ ही एक प्रकार का संगठन हमारे सामने है, इसका नाश असम्भव है। जो श्रद्धा अन्धविश्वासी करोड़ों प्रजाओं में जमी हुई है। उसे क्या गृहस्थ दूर कर सकेंगे?।

उस अन्ध विश्वास पर कुठाराघात करने के लिए भंगवे पोश साधुओं की ही आवश्यकता होगी। उन्हीं में से कर्मवीर उत्पन्न होकर उसका सुधार करेंगे। सन्यास का मूलोच्छेद करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि मूलोच्छेद उस धूर्तता के करने की आवश्यकता है जिस ने लाखों आर्य पुत्रों को आलसी, और विषयी बनाने के साथ २ करोड़ों ही सद्-गृहस्थों को अन्धकार के गढ़े में धकेल दिया है।

सन्यास की महिमा का दृश्य दिखाने वाले संन्यासी कभी २ भूमि पर आ जाते हैं और प्रजा को अन्धकार के गढ़े में से निकाल कर यथार्थ ज्ञान रूपी प्रकाश के सूर्य का दर्शन करा जाते हैं। ऋषि दयानन्द उन्हीं महात्माओं में से एक थे। उन्हों ने सन्यास के यथार्थ स्वरूप की न केवल अपने ग्रन्थों में व्याख्या ही की प्रत्युत अपने जीवन में सार्थक करके दिखाया! आर्य समाज को उन्हीं का अनुकरण करना चाहिए। आर्य समाज में इस समय भी कुछ विद्वान संन्यासी हैं। यदि वे मिल कर सन्यासाश्रम का सुधार करना चाहें तो उनके लिये कृतकार्य होना कुछ कठिन नहीं। सम्वत् १९६६ में अर्ध कुम्भी के समय एक पन्थाई विद्वान ने एकांत में अपने पापों को स्वीकार कर पश्चात्ताप किया और मुझ से साधुओं के लिए पाठशाला स्थापन करने म सहायता मांगी। यह भी साथ ही मान लिया कि पन्थ तथा सन्यासियों के दस नाम का भेद सब झूठा है। मुझ से उन्हों ने पाठ विधि तथा प्रबन्ध के नियम निर्धारित करने में भी सहायता मांगी। मैंने उन्हें उत्तर दिया "स्वामी जी महाराज! आपके पास २३लाख की सम्पत्ति है. यह सारी सम्पत्ति देकर और अर्थ की

दासता से मुक्ति लाभ करके पाठशाला कुछ धार्मिक और विद्वानों की समिति को सौंप लंगोट कस कर 'ओ३म्' का झण्डा हाथ में ले लो। एक ईश्वर, एक 'वेद', एक सन्यासाश्रम की घोषणा करते हुए सिंहनाद करो। पन्थों को छोड़ कर सहस्त्रों तुम्हारे पीछे लग जायंगे और फिर तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का वास्तविक प्रचार सर्व साधारण में हो जायगा।' पश्चात् महात्मा ने उस दिन से फिर मेरे साथ उस विषय में बात चीत न की। अब मैं आर्य समाज के सन्यासी मण्डल से उसी प्रकार का एक निवेदन करता हूं। आप में से कई यह उज्र पेश करते हैं कि जो साधु आर्य समाज की ओर झुकते हैं उन के पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं, और जो सन्यासी बीमार हो या कुछ काल स्वाध्याय वा आराम करना चाहे उस के लिए कोई आश्रम नहीं। इस लिए उन्हें विशेष गृहस्थों की शरण लेनी पड़ती है और इसी लिए उन्हें कभी २ अपने निष्पक्ष विचारों को दबाना भी पड़ता है। मेरा उत्तर यह है 'आप में से जिनके पास जितना भी धन संपत्ति है उसका नकद करलो और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से पर्याप्त भूमि खरीद कर उसके मध्य भाग में एक पुस्तकालय तथा सभा भवन बनवाकर पहिले २०, २५ अलग कुटियें बना, उन में सब भाईयों को जमा करलो। एक त्यागी गृहस्थ को कोषाध्यक्ष बना कर सारा आर्थिक प्रबन्ध उस से करावो। आप में से एक दो विद्वान् वारी २ चार

चार मास के लिए आश्रम में रह कर पढ़ने वालों को तैयार कराया करें, और शेष सब नाक की सीध पर चारों ओर वैदिक धर्म प्रचार के लिए चले जांय। किसी सभा सोसायटी वा संस्था की सहायता न ले, स्वतन्त्र होकर सत्य का प्रचार करें, तब सन्यासाश्रम का भी उद्धार होगा, और शेष जगत् का भी सुधार हो सकेगा। यदि आप लोग चाहते हैं कि सन्यासाश्रम समूल नष्ट न हो जाय तो आप को अपने जीवन से उसका गौरव और उसकी आवश्यकता दिखलानी होगी।

मनुष्य जाति का सुधार कैसे हो ?

भारतवर्ष विशेषतः नव भारत की दृष्टि अपने सुधार तथा पुनरुद्धार के लिए योरोप की ओर लगी हुई थी। युवा भारत ने समझ लिया था कि अपने शिक्षकों, अपना आदर्श 'दैवी जाति' के सञ्चालकों का अनुसरण करना ही अपनी जाति के उद्धार का साधन सिद्ध होगा। यथार्थ योरोप से ही इस के विरुद्ध प्रतिवाद उठता रहा और प्राचीन आर्यों के विचारों को संसार का भावी उद्धारक बतलाया जाता रहा। फिर भी भारत निवासियों को होश न आया। अब वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध में योरोपियन सभ्य जातियों के आचरणों ने सिद्ध कर दिया है कि योरोपियन जातियां स्वयं गुमराह हैं वे दूसरों की रहबरी क्या करेंगी? अन्धा अन्धे को कैसे मार्ग दिखला सकता है?

योरोप और अमेरिका के विचारक इस समय मान रहे हैं कि वर्तमान पश्चिमीय सभ्यता को सर्वथा बदल देने से ही मनुष्य जाति का सुधार होगा। इस सभ्यता को बदलने के लिए आवश्यकता है कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के आदर्श को ही बदल दिया जाय। जहां पशु भाव से स्त्री पुरुष का संङ्ग होगा वहां व्यभिचारी, डाकू और घातक सन्तान उत्पन्न होगी। जहां परमात्मा की पवित्र-जननशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए पितृ ऋण से उऋण होने के लिए गर्भाधान संस्कार होगा वहां धार्मिक न्याय परायण, परोपकारी सन्तान उत्पन्न होगी।

अभी तक योरोपियन सुधारकों की दृष्टि उस उच्च शिखर पर नहीं पहुंची जहां पहुंच कर प्राचीन आर्य ऋषियों ने मर्त्य-लोक के निवासियों को उपदेश दिये थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के आठवें अध्याय के चौथे ब्राह्मण में जो उत्तम दैवी सन्तान उत्पन्न करने की विधि बतलाई गई है उसे अमेरिका के सन्तान विद्या के जानने वाले डाक्टरों ने अब कहीं समझने की कोशिश आरम्भ की है।

हमारे नव शिक्षित इन नई Eugenies की पुस्तकों पर मोहित हो रहे हैं। इन पुस्तकों के पढ़ने से लाभ अवश्य है परन्तु इनको पढ़ते हुए सावधान अवश्य रहना चाहिए। यद्यपि दोनों प्राचीन आर्य तथा अर्वाचीन योरोपीय पद्धतियों का प्रकार एक ही है तथापि दोनों के लक्ष्य भिन्न २ हैं और इसलिये साधनों में गिर जाने की सम्भावना है। प्राचीन आर्य पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन धर्म है इस लिये सब अवस्थाओं में पालन करना ही चाहिए। गृहस्थ को २५ वर्षों में केवल दस बार ही सन्तानोत्पत्ति क्रिया करनी चाहिये परन्तु योरोपियन Eugenies में अधिक बार स्त्री संग करना इस लिये निषिद्ध है कि स्त्री पुरुष दोनों के शरीर निर्बल हो जाते हैं। इस का परिणाम यह होगा कि अधिक संग से जिन स्त्री पुरुषों में शारीरिक निर्बलता न आवे उन्हें इस नियम के पालने की आवश्यकता नहीं। Probems of Ssx नाम्नी एक पुस्तक प्रोफेसर टॉमसन और गौडीज़ ने लिखी है। ग्रन्थ कर्त्ता लिखते हैं कि सब स्त्री पुरुषों के लिए संग के एक नियम नहीं हो सकते, क्योंकि किसी समय अभ्यासी खिलाड़ी से भी बढ़कर एक शारीरिक बल रखने वाला अ-शिक्षित मनुष्य व्यायाम दिखा सकता है। उन प्रोफेसरों ने

परिणाम की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उन का कथन माना जाय तो जो जितना सहन कर सके उतना स्त्री संग करे; परन्तु इस का सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ेगा? और दोनों के भावी आत्माओं की क्या दशा होगी इसे नहीं सोचा।

सन्तान शुद्धि और उस के द्वारा मनुष्य जाति के पुनरुद्धार के काम में धर्म बड़ी सहायता दे सकता है. परन्तु इस समय सम्प्रदायों और मतों का बड़ा जोर है। पादरी मेयर साहब ने जातीय पुनरुद्धार पर मज़हब का प्रभाव जतलाते हुए और ईसा मसीह की श्रेष्ठता बतलाते हुए भी यह मान लिया है कि मज़हब को कुछ आगे चलने की आवश्यकता है। वह लिखते हैं कि जैसे मज़हब ने यह आज्ञा दी है कि अमुक २ सम्बन्धियों के साथ विवाह नहीं होना चाहिए वहां क्यों न वह (मज़हब) आगे चले और कहे कि—"किसी ऐसे व्यक्ति को विवाह न करना चाहिये जो किसी मानसिक वा शारीरिक रोग में ग्रस्त है या जो जानता है कि उस में पागलपन वा मिर्गी का पैत्रिक विष मौजूद है। जिस से किसी निर्दोष स्त्री पुरुष को ये रोग न लगजांय और ऐसी सन्तान उत्पन्न हो जो जीते हुए भी मृतक समान है।" पादरी साहब को ऐसा निराशापूर्ण लेख न लिखना पड़ता यदि वे ईसाई मज़हब की संकुचित परिधि से बाहर निकल कर वैदिक-धर्म की शिक्षा को पढ़ते। मनु भगवान् ने कैसी पवित्र और उच्च शिक्षा दी है।

'महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रि कुष्ठि कुलानि च ॥
॥ अ ३ । ६ । ७ ॥

'चाहे कितने ही धन धान्य गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध कुल हो तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्न दश कुलों को त्याग करदे। जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम, बवासीर, क्षय दमा, खांसी, विकृत आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठ युक्त हों उन कुलों की कन्या या वर के साथ विवाह नहीं होना चाहिए।' इस का कारण ऋषि दयानन्द बतलाते हैं—'क्योंकि यह सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।'

अयोग्यों के विवाह का कारण सच्ची शिक्षा का अभाव है। पहिले जब तक यह विश्वास न हो कि मनुष्य जाति का उद्धार हो सकता है तब तक इस काम में सुधारकों की प्रवृत्ति होना ही कठिन है। जन साधारण प्रायः यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि भाग्य को कोई बदल नहीं सकता। जब बना हुआ भाग्य संचित कर्मों का ही समूह है तब जहां कुकर्मों के आधिक्य से बुरा भाग्य प्रारब्ध बन गया वहां उत्तम कर्मों के प्राबल्य से अच्छा प्रारब्ध भी बन सकता है। ऐसा दृढ़ विश्वास होकर जब विद्या के प्रकाश में काम करना आरम्भ किया जायगा तो बिना अधिक प्रयास के ही परिवर्तन आरम्भ हो जायगा।

हमारी जाति में इस समय यही कमी है कि इस प्रकार के अपूर्व विश्वास का अभाव है। सच्चा विश्वास पर्वतों को

चीरता और लोहे के तवों में छेद कर देता है—परन्तु दृढ़ श्रद्धा जब हो तब न। ब्रह्मचर्य के बल पर और उसके महत्त्व पर श्रद्धा न हो तो मनुष्य जाति का सुधार कठिन है। किसी कवि ने कहा है:—

श्रुतिमात्ररसाः सर्वे प्रधानपुरुषेश्वराः।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा॥

जब ब्रह्म और उस का ज्ञान 'वेद' भी श्रद्धा के लिए अग्राह्य नहीं, फिर उस का आश्रय लेकर कौन सा कठिन दुर्ग है जिस पर सदाचारी मनुष्य विजय नहीं प्राप्त कर सकता। श्रद्धा का आवेश बिना सचाई के नहीं होता।

श्रद्धासम्पन्न मनुष्य सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में पागल सा दिखाई देता है, परन्तु संसार में पाप और अविद्या के दुर्ग गिराने वाले पागल ही हुआ करते हैं। ब्रह्मचर्य और पवित्रता को स्थापन करने में ऐसे ही मनुष्य कृतकार्य हो सकते हैं जिन्हें इनकी श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास हो, वही दूसरों को इस पवित्र मार्ग पर चला सकते हैं।

जहां राजनैतिक कृतकार्यता के सामने सतीत्व तथा शुद्धता का कुछ भी का ध्यान रखा जाय, सामयिक सफलता के लिए धर्म का बलिदान कर दिया जाय वहां राजनैतिक, सामाजिक वा जातीय सफलतां भी चिरस्थायी नहीं होती। स्वजाति पर विदेशियों की कुनीति का ऐसा ही प्रभाव पड़ रहा है। कुछ समय पूर्व यवनों में इस विचार का खुला प्रचार था कि काफ़िर की सिगरिट को दबाने के लिये द्विजों की

स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करना चाहिए। यह भाव इस समय भारत में फैलता जाता है। चोरी से चोरी और झूंठ से झूंठ को जीतने का प्रचार हो चला है। इस भयानक अवस्था में यह प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है कि पवित्रता धर्म है और इस लिए उस को बड़े से बड़े व्यक्तिगत, सामूहिक तथा राष्ट्रीय लाभ पर बलिदान करना, अपने सर्वस्व का नाश करना है। परमेश्वर करे ऐसे पागल पैदा हों जो मनुष्यों का ब्रह्मचर्य और सदाचार की पवित्र वेदी पर मानापमान तथा सर्व पाशवीय भावों का स्वाहा करना सिखावें।

जातीय आत्म-विचार की आवश्यकता।

आत्म विचार की आवश्यकता—व्यक्तियों को ही नहीं मनुष्य समाजों और जातियों को भी है। मैं अभी न्यूयार्क (अमेरिका) का एक मासिक पत्र पढ़ रहा था उसमें अंग हीन सन्तान उत्पन्न करने से बचने के विषयका एक लेख देखा। लेखक ने विस्कांसिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर गुयर (Professr M. T. Cuyor) की पुस्तक 'Being well Born' में से उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि अंग हीनों के विवाह से संसार में बहुत सी आपत्तियां फैलती हैं। प्रोफेसर गुयर की सम्मति है कि अंग हीनों का विवाह ही न होना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो दो समान अंग हीनों का विवाह तो सर्वथा ही त्याज्य है। वह लिखते हैं कि गूंगे बहिरे यह दोष पैतृक दाय में ही प्राप्त करते हैं और इस प्रकार समान दोष वालों का विवाह उनके सन्तानों को दोष युक्त कर संसार में दुःख का बढ़ाने वाला होता है। उन की सम्मति में जो गूंगे बहिरों के शिक्षणालय हैं उनसे बड़ी हानि हो रही है। समान अंग विहीन स्त्री पुरुष जब परस्पर मिलते हैं तो स्वभावतः (अन्य सम्बन्ध न मिलने पर) उनका आपस में सम्बन्ध हो जाता है जिससे बहुत ही दुःख दाई परिणाम निकलते हैं। इसीलिए प्रोफेसर महोदय ने इस विषय पर पुस्तक लिखा है ताकि 'विवाह' विषय पर ठीक प्रकाश पड़कर यथार्थ ज्ञान फैलने से अयोग्य पुरुष इस विवाह रूपी विशेष पवित्र सम्बन्ध से बचें।

मालूम होता है कि अमेरिका जैसे स्वतन्त्रता प्रिय और जागृत देश में भी सर्वसाधारण अयोग्यों के रोकने में प्रवृत्त नहीं होते इसीलिए प्रोफेसर गुयर लिखते हैं - "हम अपने अगड़दत्त उत्तम कोटि के मनुष्यों को सहस्रों की संख्या में कटवाने के लिए युद्धक्षेत्र में भेजने से संकोच नहीं करते जब हमारे उस वहमी विचार का अपमान होता है जिसे जातीय सम्मान कहते हैं, परन्तु हम इस दैव दुर्वियोग को सर्वथा भूल जाते हैं, जब अयोग्य पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति से वञ्चित करने के प्रस्ताव से उनकी वैय्यक्तिक स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप को सुन कर आपे से बाहिर हो जाते हैं"। समाज ने कुछ मनुष्यों की स्वतन्त्रता छीनना आवश्यक समझा है, किन्तु उनके सम्बन्ध में हम स्वतन्त्रता छिनने की कोई शिकायत नहीं सुनते। यदि बटुवे को चुराने वाले या घोड़े इत्यादि वस्तुओं को चुराने वाले को कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता है तो क्या उस मनुष्य को रोकने की आवश्यकता नहीं है जो सारे परिवार के रक्त को विष युक्त कर पुश्तों तक सारे वंश को विषमय बना देता है?

"इस समय की सब से बड़ी एक आवश्यकता यह है कि विवाह सम्बन्धी सब सचाइयों की शिक्षा देकर स्त्रियों में जागृति उत्पन्न की जाय। यतः सब से अधिक हानि स्त्रियों को ही पहुंचती है इसलिये एकबार पता लग जाने पर अपनी शारीरिक रक्षा के लिए वे अपने भावी वरों से उत्तम स्वास्थ्य का प्रमाण अवश्य मांगा करेंगी। सन्तानों का सम्पूर्ण भविष्य स्त्रियों पर ही अवलम्बित है और उन्हीं की हां, वा, नां पर विवाह का फैसला होता है, इसलिये सन्तान

में होने वाले गुण और अवगुणों का निश्चय उन्हीं के हाथ में है। युवा कुमारियों को यह अनुभव कर लेना चाहिए कि नष्ट चरित्र या दुराचारी युवक वास्तव में शारीरिक स्वास्थ्य का स्वामी नहीं होता और अपनी भावी पत्नी और सन्तान के लिए भयानक सिद्ध होता है, चाहे उपन्यास उसका कैसा ही मनोरञ्जक और कल्पित चित्र क्यों न खींचे।"

आर्य जाति की दशा, अमेरिका की दशा से अधिक भयानक है। भेद केवल इतना है कि उनकी आंखें खुली हुई हैं और हम अपनी दशा पर कुछ विचार नहीं करते। जिस भयानक राजरोग को समझ कर अमेरिका ने उसकी चिकित्सा प्रारम्भ करदी है उसको हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया था और इसीलिए ऐसी आश्रम व्यवस्था स्थापन की कि रोग जाति से सदा दूर रहता था। ब्रह्मचर्याश्रम की स्थिति इसीलिये थी कि बालक बालिकाओं के गृहस्थकाल उपस्थित होने तक उन्हें सच्चे गृहस्थ के योग्य बनाया जावे। आर्य जाति के बच्चे आज २० वर्ष की आयु तक ही जिन शक्तियों को नष्ट कर देते हैं उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध गुरुकुलों में होता था। जो गिरता था उसे भी आचार्य जानता था और जो नहीं गिरता था उसे भी जानता था। आर्यों का राज्य शासन और जनता की सम्मिलित सम्मति ही ऐसी थी कि आचार्य की आज्ञा लिये बिना जो युवक विवाह के पवित्र सम्बन्ध के लिये आतुर होता उसे कोई भी ब्रह्मचारिणी स्वीकार करने के लिए तय्यार न होती थी। भगवान मनु लिखते हैं—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्।

"गुरु की आज्ञा ले स्नान और यथा विधि समावर्तन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (द्विज) अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षण युक्त कन्या से विवाह करें।"

उस समय गुरु की आज्ञा का बन्धन ऐसा दृढ़ था जिसका मुकाबिला आज कल के बड़े से बड़े राजनियम भी नहीं कर सकते।

आर्य जाति की कन्याओं में इस समय पूर्ण जागृति उत्पन्न करना कठिन है। लाखों में कोई ऐसी विरली विदुषी निकलेगी। जो संस्कारों के उच्च तत्व को समझ सके। इनके द्वारा इस रोग को दूर करना कठिन है जो इस समय फैल रहा है। विषयासक्त पुरुष, स्त्रियों को केवल विषय भोग का साधन समझते हुए अपाङ्ग निर्बल सन्तान उत्पन्न कर रहे है। अबोध बालक भयंकर रोगों से पीड़ित हो रहे हैं, कोई पूछने वाला नहीं है। पिपासाकुल कोई बनिये का लड़का यदि चमार के घड़े का पानी पीले तो उसे बिरादरी से पृथक् कर दिया जाता है, वह पैतृक सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता है। परन्तु यदि वही लड़का हुक्के की अहर चढ़ा और शराब के कनस्तर लुंढा कर अपनी धर्मपत्नी को विषमय करने के अतिरिक्त पागल सन्तान उत्पन्न करता है तो उसे पैतृक सम्पत्ति से अलग करने का किसी को साहस नहीं होता।

भारत के नवयुवको ! आर्य जाति के पुत्रो ! क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम अपनी जाति को किस रसातल में पहुंचा रहे हो। विदेशियों से शिक्षा लेकर तुमने अपने श्रोत को ही भुला दिया है। तुम अपने आपको देश भक्त कहते हो, भारत को माता पुकारते हो, 'वन्दे मातरम्' के नाद से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर देते हो तो क्या तुम्हारी कर्तव्य परायणता की पराकाष्ठा होगई ? क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि वन्देमातरम् के इस प्रकार से माता को कुछ शान्ति भी हुई या नहीं ? जितनी अङ्गहीन, निर्बल, रोगग्रस्त सन्तान उत्पन्न हो रही है माता का दुःख दिन रात उतना ही बढ़ता जाता है। तुम्हारे अन्दर के नेत्र यदि खुले होते और तुम माता के मलिन मुख को देख सकते तो तुमको निश्चय होजाता कि माता की सन्तान का नाश करने वाले, माता के पुत्र नहीं हो सकते।

आर्य युवको ! जरा विचार तो करो कि शास्त्रार्थ या वाद विवाद में अन्य मतावलम्बियों को चुप करा देना ही वैदिक धर्म की ठीक सेवा है ? प्राचीन आचार्यों का अभाव है और नवीन आचार्यों के पास अधिकार नहीं। क्या तुम्हारी सम्मिलित शक्ति आर्य युवकों के लिये आचार्य का काम नहीं दे सकती ? मैं जानता हूं कि जब कोई आर्य युवक २४ वर्ष की आयु से पहिले विवाह करता है तो तुम अपने अमल से उसे बतला देते हो कि उसने बुरा काम किया है। मैं चाहता हूं कि तुम अपने संगठन को अधिक विस्तृत तथा दृढ़ करो। आर्य कुमार सभाओं में बूढ़े और गृहस्थ दखल देना छोड़दें। इन सभाओं के संगठन से

एक भी अविवाहित युवक अलग न रह जाय। अपना मुख्य नियम यह बना लें कि मद्यादि मादक द्रव्यों (तम्बाकू सहित) का सेवन और मांस भक्षण करने वाले उन की सभा के सभासद न बन सकेंगे। सब यह प्रतिज्ञा करें कि उन में से कोई विवाह न करेगा जब तक कि विवाह से एक वर्ष पहिले सर्व प्रकार के छोटे २ व्यसनों से भी मुक्त न हो लेगा। प्रत्येक प्रतिज्ञा करे कि यदि उस को कोई भी बीमारी होगी (चाहे कितनी छिपी हुई क्यों न हो) तो वह विवाह करने से इन्कार कर देगा। प्रमेह रोग में ग्रस्त तथा अन्य रोगों से पीडित स्वार्थवश यह समझ लेते हैं कि विवाह से उन के यह रोग दूर हो जायंगे। परन्तु यह भारी भूल है। परन्तु यदि यह सम्भव भी हो तो एक स्वस्थ देवी के शरीर और मन को नाश करना पिशाचत्व से कम नहीं समझा जाना चाहिए। आर्य युवको! यदि तुम्हारे नियमों के विरुद्ध कोई भी युवक (चाहे तुम्हारी सभा का सभासद हो वा नहीं) विवाह करना चाहे तो उस से प्लेग की तरह बचो। उसका ऐसा बहिष्कार करो कि वह फिर अगुवा बन कर समाज में न बैठ सके। इस पवित्र कर्तव्य के पालन से तुम भारत माताके ऋण से उऋण हो सकोगे।

---

(५)

कितने अवसर बिसार दिए !

यह कहावत लोक प्रसिद्ध है कि एकबार बादशाह अकबर ने बीरबल से कहा कि जब वह हिन्दुओं के सब सिद्धान्त मानते हैं तो उन्हें क्यों न हिन्दू बना लिया जाय? बीरबल ने अपनी लोकप्रसिद्ध प्रकृति के अनुसार उत्तर के लिए ४ दिनों की मोहलत मांगी? जब तीन दिनों तक दरबार से बीरबल को अनुपस्थित पाया तो दरबारियों से उसका पता पूछा। एक ने बतलाया कि बीरबल तीन दिनों से यमुना तटपर एक खेल खेला करते हैं। बीरबल का बिछोड़ा अकबर के लिए असह्य हो जाता था क्योंकि वह बीरबल के वाक्चातुर्य पर मोहित थे। बादशाह सलामत स्वयं यमुना तट पर पधारे। देखते क्या हैं कि बीरबल एक गधे को साबुन आदि से खूब मल २ के धो रहा है। अकबर ने हंसकर पूछा यह क्या मसखरापन कर रहे हो?' उत्तर मिला 'जहांपनाह! इस गधे को घोड़ा बना रहा हूं? बादशाह सलामत बोले 'अबे बेवकूफ! कभी गधा भी घोड़ा बना है?' हाजिर जबाब बीरबल ने कहा 'तब बादशाह सलामत! कभी मुसलमान भी हिन्दू बना है?' विदूषक का यह भण्डेलापन तो चलगया, परन्तु कोई यह उत्तर न था; क्योंकि गधे और घोड़े में जातीय भेद है और हिन्दू और मुसलमान एक ही मनुष्य जाति के सभ्य हैं।

बीरबल का वह ३०० वर्ष पुराना उत्तर अबतक आर्य जाति के संकुचित विचारों का उदाहरण है। यदि उस समय

अकबर को आर्य जाति में मिला लिया जाता तो न औरंगजेबी जमाना आता और न भारत की वह दुर्दशा होती जो आचार हीन मुगल बादशाहों के नीचे रहने से हुई, और न जाने उस वीरता का कदम उठाने पर आज संसार में कैसा पलटा खाया हुआ होता। वह अकबर जिसने अपने सारे जीवन में पक्षपाती मोहम्मदी मत से किनारा रक्खा, अपनी मृत्यु के समय मुसलमान मुल्ला को बुलाकर 'कलमा' पढ़ता है; क्योंकि आर्य जाति के संकुचित विचार रखने वालों ने उसे धर्म भाई मानकर अंगीकार न किया। जो वर्ताव आर्य सभ्यता के ठेकेदार आर्य जाति ने अकबर के साथ किया था वही वरताव उसका अवतक विदेशी हितचिन्तकों के साथ जारी है। आर्य सभ्यता के पुराने आदर्श पर मोहित होकर कितने भद्र पुरुष वाहर से मातृभूमि के (भारत के) सेवक वनकर आए, परन्तु आर्यजाति ने उनको अपने से अलग ही रक्खा और अन्त को वे, प्रवल इच्छा रखते हुए भी भारत माता की वह सेवा न कर सके, जो वे हम में मिलकर कर सकते।

अकबर के मन्तव्य।

अकबर के मन्तव्यों का (जिन्हें वह दिन रात कार्य में लाता था) वर्णन पढ़कर कौन इनकार कर सकता है कि वह एक आदर्श आर्य सुधारक था। सय्यद-मुहम्मद लतीफ ने आगरे का जो वर्णन किया है उसमें उन्होंने अकबर का इतिहास उस समय के मूल ग्रन्थों में से दिया है। लतीफ महाशय के उस ग्रन्थ में से, उद्धरण देकर यह दिखलाने

बहुत सुगम है कि अकबर हिन्दू व मुसलमान साम्प्रदायिक न था, प्रत्युत शुद्ध आर्य धर्म के समीप पहुंचा हुआ था।

हिन्दू धर्म के सिद्धान्त पैतृक दाय से ही अकबर को मिले थे। अकबर गर्भ में ही था जब उसके पिता हुमायूं को अमरकोट के राजा रणप्रसाद की शरण लेनी पड़ी। उसी अमरकोटाधीश के घर में १५ अक्टूबर १५४२ ईस्वी के दिन अकबर का जन्म हुआ। हुमायूं यहां तक उदार हो चुका था कि वह चित्तौर के राणा उदयसिंह की माता कर्णवती का 'रक्षाबन्ध भाई' बना था, और उसे बहादुरशाह के विरुद्ध सहायता भी दी थी, इसलिये यह स्वाभाविक बात थी कि अकबर के अन्दर हिन्दुओं से घृणा न हो।

अकबर को सब से पहले 'कयामत के मसले' पर सन्देह हुआ। "उस ने कयामत के मसले को जवाब दे दिया और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास स्थिर किया। इस लोकोक्ति को दिल से अनुमोदन करता था कि 'कोई भी ऐसा मत नहीं है जिस में जीवात्माओं के पुनर्जन्म के सिद्धांत ने दृढ़ता से जड़ न पकड़ी हो' ।ब्राह्मण इस सिद्धान्त के समर्थन की साक्षी के लिए पुस्तकें रचते थे" (पृष्ठ २१०) 'वह पुनर्जन्म के विरुद्ध सज़ा जज़ा से इन्कारी था'. पैगम्बरों और पीरों के मोजज़ों के विरुद्ध था, और जिनों, फरिश्तों तथा अदृश्य जगत् के प्राणियों के अस्तित्व से इन्कारी था, (पृष्ठ २०१)। अकबर के समय गायत्री मन्त्र में सूर्य की उपासना का विधान ही समझा जाता था, इसीलिए श्रीमान् सब से बड़े प्रकाश सूर्य की पूजा करते थे, जिसकी, शेष सब

प्रकाश प्रजा है और उन्हों ने सात विविध रंगों के वस्त्र धारण करना आरम्भ किए जो कि सप्ताह में विशेष दिनों पर सातों ग्रहों के रंगों के अनुसार पहिरते थे (पृष्ठ २१०)। और एक आज्ञा दी गई कि प्रातः सायं, मध्यान्ह तथा रात्रि समय चार बार सूर्य पूजा हुआ करे। वह नित्य सूर्य की ओर मुंह करके १००१ सूर्य के नामों का संस्कृत में जप करते थे और हिन्दू चिन्ह (चन्दन का टीका) माथे पर लगाते थे, उन्हों ने अपने मत का नाम 'तौहीद इलाही' रक्खा था। और हिन्दू मुसलमान दोनों में से चेले बनाते थे (पृष्ठ १६१)। इस्लामी निमाज संकुचित और अशुद्ध बतलाई जाकर छोड़ दी गई, और रोज़ों (भूखे मरने) को तक़लीदी (अन्ध विश्वास) कह कर मना किया गया। ईरान के अग्नि पूजकों तथा ब्रह्म के अनुयायियों की प्रार्थनाएं अधिक विस्तृत तथा फलदायक समझी जाकर जारी की गई। (इस तौहीदे इलाही मत के) सभासद् मांस भक्षण से निवृत्त रहते, अपने जन्म दिवस पर उन्हें उसके समीप जाने की भी मनाई थी (पृष्ठ २१३)। उस ने गौ मांस का खाना मने किया, उसका विश्वास था कि गाय को मारना पाप है और वह गोबर को शुद्ध समझता था। वैद्य गण अपनी पुस्तकों में यह सिद्ध करने के लिए उदाहरण देते थे कि गोमांस स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और बहुत सी बीमारियों को उत्पन्न करने वाला है (पृष्ठ २१०)। फादर अकावा एक पादरी ईसाई था, जिसने २७ सितम्बर १५८२ ई० के एक पत्र में लिखा था। 'बादशाह आप दिन कई बातें करके दर्बार में हलचल मचा देते हैं। अन्य बातों में वह सूर्य व चांद की पैदा की हुई वस्तुओं की स्तुति करते हैं और शनि तथा आदित्यवार को मांस

सर्वथा छोड़ देते हैं......(इन दिनों) प्रायः बाजार में मांस नहीं बिकने पाता और आदित्यवार को कुछ भी मांस खाने को नहीं मिलता (२१४ पृ०)।

मांस भक्षण तो अकबर ने छोड़ ही दिया था, परन्तु ज्ञात होता है कि वह सब उत्तेजक पदार्थों से भी परहेज करता था। "श्रीमानों ने न केवल गोमांस न खाने की शपथ ले ली है। प्रत्युत लहसन, प्याज और दाढ़ों को भी (जवाब दे दिया है) दिवाली के त्योहार पर जब हिन्दू लोग गौ की पूजा करते हैं। बहुत सी गौएं सजाकर श्रीमानों के सामने लाई जाती हैं।......दाढ़ी मुण्डाना बादशाह की दोस्ती और प्रेम का बड़ा चिन्ह समझा जाता था और इस लिए यह आम रिवाज हो गया था। हिन्दू रुचि के विरुद्ध बातें सब ही छोड़ दी गईं। और घण्टियों के बजाने का रिवाज भी जारी किया।"

हिन्दू विचारों के अनुकूल आचरण करने में अकबर बुद्धि से काम लेता था और निरक्षर होते हुए भी उस का कोई काम बुद्धिशून्य न था। इस के लिए एक उदाहरण ही काफी है—'जंगली सूअर और चीते के मांस खाने की आज्ञा थी, इस बुनियाद पर कि खाने वाले आदमी में इन जानवरों का बहादुरी का अंश प्रविष्ट हो जायगा, (२१६) पृष्ठ।

अकबर को जल से बड़ा प्रेम था। वह जल को अमृत समझता था; गंगाजल पर तो वह मोहित था—'चाहे घर पर हो यात्रा में वह गंगाजल का ही सेवन करता था जो कि खामी हुई सुराहियों में 'सारन' से आता था जो गंगा-

तट पर सब से समीप स्थान था, जब कि दर्बार आगरे में वा फतहपुर में होता; और गंगा तट से जल भेजने के लिए विश्वासपात्र मनुष्य नियत थे। श्रीमानों का भोजन वर्षा के जल से बनता था। अथवा यमुना वा चनाव से लाए हुए जल से (जब बादशाह पञ्जाब में होते), परन्तु थोड़ा गंगा जल उसमें अवश्य मिलाया जाता। पृष्ठ २२३।

'अकबर अपने भोजन में त्यागी तथा अल्पाहारी था। उस ने मांस को त्यागा हुआ था। और उसे हाथ लगाए बिना अकबर को महीनों बीत जाते थे। वह प्रायः चावल दूध और मिठाई पर ही गुजारा करता था, और २४ घण्टों में एकबार से अधिक भोजन नहीं करता था। (पृ० २२२)

अकबर के दयालु स्वभाव का एक उदाहरण देकर लेख के इस भाग को समाप्त करता हूं—सन् १५८० ई० में एक बार अकबर 'दस्तरखान' पर बैठा था, उसे एक विचार सूझा (वह यह था) कि जहां मैं भोजन का आनन्द लेरहा हूं वहां बहुतसे भूखे मनुष्य भी होंगे, जिन्होंने इस भोजन को अत्यन्त लालसा से देखा होगा। जिसपर ऐतिहासिक (मिर्जा निजामुद्दीन अहमद) पूछता है—"तब कैसे खा सकता था जब भूखे भोजन से वंचित थे?" उसी समय उस (अकबर) ने आज्ञा दी कि जो भोजन उसके लिये बने उसमें से पहिले भूखों को खिलाया जाया करे और बाद को उसके सामने परसा जाया करे। मालूम होता है कि बिना जाति और मत-भेद के उसकी दया सब ओर विस्तृत थी।

परन्तु क्या अकबर केवल प्रचलित हिन्दू सिद्धान्तोंका ही पोषक था ? वह केवल अपने अपनाए हुए हिन्दू धर्मका ही सुधारक न था प्रत्युत मुहम्मदी मतका भी संशोधक था।

जहां मद्य को मनुष्य के लिये हानिकारक समझकर वह उस को त्याज्य वस्तुओं में गिनता था, वहां शराबकी इजाजत थी यदि वह (शारीरिक) बल चढ़ाने तथा वैद्यकी आज्ञानुसार दीजावे। अपनी माताकी मृत्युपर अकबर ने स्वयं मूंछ दाढ़ी मुण्डवा डाली, तब सब मुसलमान दर्बारियोंने भी उसका अनुकरण किया। और तब से ही दाढ़ी मुण्डवाने की प्रथा चली। अकबरका पुत्र जहांगीर और पौत्र शाह जहां भी दाढ़ी मुण्डवाते रहे। दाढ़ी की प्रथा फिर से कट्टर औरंगजेब ने प्रचलित की। अकबर से पहिले मुसलमान बादशाहों ने हिन्दूओं के लिये भी मुहम्मदी शाही चलादी थी, अकबर ने उदार हिन्दू नीति के अनुसार यह आज्ञा दी कि हिन्दुओं के झगड़े का फैसला विद्वान ब्राह्मण शास्त्रानुसार किया करें और मुसलमानों का मुहम्मदी काजी। मुसलमानों में सूद का लेना भी बादशाह ने जायज़ करार दिया।

शुद्धि का महकमा भी अकबर ने खुला जारी कर रक्खा था। जो हिन्दू छुटपन में बलात्कार से बिना समझे मुसलमान बनाए गए थे युवा होनेपर उन्हें अवसर दिया जाता था कि अपने कुल में लौट आवें 'किसी मनुष्य को उसके मन्तव्य के कारण तंग नहीं किया जा सकता, था हर एक को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि अपना पैतृक मत बदलकर अपनी इच्छा और सुगमता के अनुसार दूसरा मत ग्रहण करले। यदि कोई हिन्दू स्त्री किसी मुसलमान के प्रेम से मत परिवर्तन करती तो उसे

जबरदस्ती उनके कब्ज़े से निकालकर उसके परिवार के सुपुर्द कर दिया जाता। इसीप्रकार यदि किसी मुसलमान स्त्री का किसी हिन्दू से प्रेम होजाता था तो वह हिन्दुओं में शामिल होने से रोकी जाती। पृष्ठ २१८, २१९। अकबर की इस व्यवस्था की ओर उन आर्य नामधारियों को ध्यान देना चाहिए जो वर्णों के व्यभिचारपर शुद्धि और विवाहका ठप्पा लगाकर समाचार पत्रों में अपने यश का गीत गवाते हैं।

'अकबर हिन्दुओं के इस रिवाज के विरुद्ध था जिसके अनुसार एक आदमी को उस स्त्री के साथ विवाह में जोड़ दिया जाता है जिसे उसने कभी देखा नहीं और न जिसका सत्संग किया है। उसका मत था कि विवाह को धर्मसम्मत बनाने के लिये उचित है कि वर और वधू की परस्पर सहमति हो, और यदि वे नाबालिग़ हों तो उनके माता पिताकी अनुमति हो। जब तक वर वधू अपने बुरे भले के समझने योग्य न होजावें वह (अकबर) उनका विवाह उचित नहीं समझता था—संसार में सदाचार की दृढ़ता के लिए अकबर विवाह को आवश्यक समझता था' परन्तु विवाह करते समय मनुष्योंका उद्देश्य विषयभोगसे उच्च होना चाहिये और यह तभी होसकता है जब दोनों के गुणकर्म मिलजांय।

बाल विवाह के विरुद्ध अकबर ने कानून बनाया। १६ वर्ष की आयु से पहिले लड़कीका तथा १८ वर्ष की आयु से पूर्व लड़के का विवाह न होने पावे। बहु विवाह के वह विरुद्ध था। गर्भवती, बूढ़ी, बांझ वा अत्यन्त बाला स्त्री के साथ सम्भोग का निषेध था। सती के रिवाज़के विषय में यह कानून था कि बलात्कार से किसी स्त्री को न जलाने दिया जाय। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता को रोका न जाय।

कहांतक लिखा जाय, यदि अकबर का आर्यजाति में प्रवेश होजाता तो इस देशकी काया ही पलट जाती। फिर५ उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करके उन्हीं के उपदेश को अपने जीवन का आधार मानने वाला और ब्रह्मविद्या (उपनिषद्) के आगे सारे यूरोप का शिर झुकवाने वाला दाराशिकोह ही शायद अकबर की डाली हुई बुनियादपर एक उदार राष्ट्र का महल खड़ा करता। परन्तु इस अभागे देश निवासियों ने अभी कर्मफल भोगना था! हा! कितने अवसर बिसार दिये, आर्यसन्तान! क्या अबभी न चेतेगी?

इस अधूरे यत्न से क्या होगा।

भारत वर्ष में इस समय ३ प्रति शतक भी पढ़े लिखे नहीं हैं। योरोपियन देशों में वह देश अभागा समझा जाता है जिसमें अनपढ़ों की संख्या एक प्रतिशत से अधिक हो। भारत वर्ष में शिक्षा प्रचार की आवश्यकता को सब चिर-काल से स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु क्या मानसिक शिक्षा मात्र से इस देशका कल्याण हो सकेगा? माना कि कुछ समय से शारीरिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो चला है और उसकी आवश्यकता को सब समझने लग गये हैं; परन्तु क्या प्रजा के शरीर और मन को बलिष्ठ करने से ही किसी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है? जिन योरोपियन देशों को ९९ प्रति शतक शिक्षित प्रजा का अभिमान है, जिनके यहां शारीरिक बल बढ़ाने के बढ़िया से बढ़िया साधनों का विकास हो चुका है, उनकी इस समय क्या दशा है? जो सभ्यता के ठेकेदार थे और काली जातियों को पशु और असभ्य समझते थे उनका झूठ, उनका अत्याचार, उनका पिशाचत्व संसार में हाहाकार मचवा रहा है। विचारक ऐसी सभ्यता से लज्जित हो रहे हैं। वह देश, जो जुलाई सम्वत् १९१४ ई० तक हमारे पथ प्रदर्शक थे अब शिक्षा की उन्नति में भी हमारे लिए आदर्श नहीं समझे जा सकते।

इन सभ्य देशों की गिरावट का कारण क्या? मनुष्य, शरीर अन्तःकरणचतुष्टय और आत्मा के संयोग का नाम

है। पाश्चात्य जातियों ने आत्मा को बीच में से उड़ा दिया है। जब आत्मा ही न रहा तो सदाचार का क्या काम? जननेन्द्रिय की पवित्रता को भु ा दिया गया। राजनैतिक विजय के लिये स्त्रियों ने सतीत्व की कुछ भी परवाह न की। पुरुषों ने ब्रह्मचर्य पालन और वीर्य रक्षा को कुछ न समझा। आज इसीलिए हम 'सभ्य हिंसक पशुओं' का दंगल देख रहे हैं।

हम अभीतक उनका अनुकरण किये चले जाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन इसी में समझा गया है कि कुछ दिनों तक विवाह रोक दिया जावे। गुरुकुल खुलने के तीन वर्ष बाद मिसेज़ एनी बेसेन्ट ने नियम बनाया कि बनारस हिन्दू कोलिज के स्कूल में मिडिल तक कोई ऐसा विद्यार्थी प्रविष्ट न हो सके जिसका विवाह हो चुका हो। तीन वर्षों से दयानन्द स्कूल लाहौर में भी इस नियम को मिडिल तक प्रचलित किया गया है। यह तो कुछ सुधार नहीं, परन्तु यदि बी० ए० क्लास तक भी विवाहित की भरती बन्द कर दें तो भी क्या होगा? क्या पशु-जीवन बन्द हो जायगा? क्या विवाहित जोड़े अपने कुकर्मों से कभी २ श्यान परिवार को भी मात नहीं कर देते? क्या बोर्डिंग स्कूल खोल कर इस रोग का इलाज हो जायगा? जब तक सुकुमार बालकों को जननेन्द्रिय की रक्षा और उसकी पवित्रता को स्थिर रखने की विधि न सिखाई जायगी, तब तक विवाह न करना, वा विद्यार्थियों को वर्ष का कुछ भाग एक साथ रखने से कुछ भी लाभ न होगा।

वर्तमान कालिज शिक्षा प्रणाली कैसे विद्यार्थी उत्पन्न करती है? आज से ४२ वर्ष पूर्व जिस प्रकार काशीपुरी में

कालिजों के विद्यार्थी व्यभिचार दोषों से पीड़ित लट्ठ और छुरी की लड़ाई लड़ते थे, आज भी कालिजों के केन्द्र स्थानों में वही छुरी चल रही है। इसमें विद्यार्थियों का कितना अपराध है? इस पर विचार करना चाहिए। जिन्हें माता पिता ने पशु जीवन व्यतीत करते हुए उत्पन्न किया, जिन्हें व्यभिचारी लम्पट विषयी पुरुषों ने शिक्षा दी, कालिज में पहुंच कर जिनके सामने बड़े नेताओं का दुराचार पूर्ण जीवन रक्खा गया, उनसे आशा ही क्या की जा सकती है? कालिज, रावी वा जमुना के इस पार हो वा उस पार इससे कुछ भी लाभ नहीं, जब तक कि माता पिता के उत्तम संस्कारों से प्रभावित होकर बालक आचार्य-कुल में निवास नहीं करता। तभी तो वह उत्तम आचार्य चुनने के योग्य होगा। वेद की आज्ञा है:—

'स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न सन्नशे।'

हे ज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी! स्वयं अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं अच्छे आचार्य को प्राप्त हो, स्वयं उसकी सेवा कर जिससे तेरा यश (कुसंग) के साथ नष्ट न हो।" कैसा पवित्र, कैसा उत्साह जनक उपदेश है? क्या कालिजों की वर्तमान स्थिति में कोई विद्यार्थी अपने लिये स्वयं आचार्य को स्वीकार कर सकता है? सैकड़ों में कोई एक आत्मज्ञ प्रिन्सिपल दिखाई देता है, दौड़ता हुआ जिज्ञासु ब्रह्मचारी उसके पास पहुंचता है, प्रिन्सिपल युवक के शुद्ध भाव को पहिचानता है; परन्तु शोक! प्रविष्ट करने की

शरीर अन्तःकरणचतुष्टय और आत्मा के संयोग का.

नियत संख्या पूरी हो गई और एक भी और प्रविष्ट नहीं हो सकता, फिर आचार्य को कैसे चुने ?

परन्तु आचार्य भी कहां मिलते हैं ? और बेचारे करें भी क्या ? उन्हें प्रविष्ट करते हुए विद्यार्थी की परीक्षा लेने का कहां अधिकार है ? प्रार्थी की आंखें भयानक हैं, उसका मुंह पिशाचत्व का नमूना है, उसपर विषय ही विषय भोग अंकित है; परन्तु परीक्षा की परची जिसके पास है उसे इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में गुरु और चेला दोनों ही असन्तुष्ट हैं। वेद भगवान् का उपदेश है, कि—

'कस्त्वा छयति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि-शम्यति। क उते शमिता कविः ॥'

कौन (तेरे अंग प्रत्यंग की परीक्षा कर) तुझे छेदन करता (अर्थात् तेरा सार जान लेता है) कौन तुझे उत्तम शिक्षा देता ? कौन तेरे (भौतिक तथा आत्मिक) अंगों को शान्ति पहुंचाता और कोन तेरा यज्ञकर्ता तत्व ज्ञानी कवि है ?' कहां यह गुरु शिष्य का आदर्श और आज कल के बेमेल जोड़ ! जब तक जाति की शिक्षा जाति के हाथ में नहीं आती, तब तक शिक्षणालयों को राज्य के प्रबन्ध से अलग करके उनकी स्थिति का निर्भर उनके आचार्यों के सदाचार और उच्च जीवन पर ही नहीं रक्खा जाता और जब तक माता पिता शुद्ध भाव से सन्तान उत्पन्न करके उनमें आचार्य चुनने की योग्यता का संचार नहीं करते, तब तक वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमें दिनोंदिन रसातल की ओर ही लिए जायगी।

वर्णाश्रम धर्म के सुधार से ही संसार का सुधार होगा।

आज सारा संसार बोल्शैविज्म के डर से कांप रहा है। जब मित्र उसका (बोल्शैविज्म) चित्र खेंचते हैं, तो स्वर्गीय दृश्य दिखा देते हैं और जब शत्रु उस की तस्वीर बनाते हैं तो उस में कुम्भीपाक नरक की भट्टी दिखाई देती है। बोल्शैविज्म क्या है? एक गिरगट की तरह रंग बदलने वाला छलावा है। उस का वही रुप है जो "रुद्र धनुष" तोड़ने के समय महाराज रामचन्द्र के स्वरूप का आदि कवि तुलसीदास ने वर्णन किया है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

परन्तु वास्तव में "बोल्शैविज्म" है क्या? न मित्रों का खींचा चित्र ही ठीक है और न ही शत्रुओं की खींची डरावनी तस्वीर ही दुरुस्त है। उस की वास्तविक स्थिति इन दोनों का माध्यम है। बाल्शैविज्म एक अग्नि है और अग्नि का गुण भस्म करना है, उस की भड़की हुई ज्वाला की लपटों में जो कुछ भी आता है भस्म हो जाता है। वहां पापी और पुण्यात्मा का कुछ भेद नहीं रहता। उस में अपराधी और निर्दोषी में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। जो भी उस की लपेट में आया, स्वाहा हो गया।

शरीर अन्तःकरणचतुष्टय और आत्मा के सब /.

'बौल्शेविज़्म' संसार के परमोद्देश्य का परम साधन नहीं। परम साधन की ओर ले जाने के लिए यह एक भीषण परन्तु अनिवार्य यन्त्र है। संसार भोग प्रधान हो रहा है और स्वार्थ का राज्य है। व्यक्ति से व्यक्ति और राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ के जाल में फंस कर ही, भिड़ रहा है। प्राकृतिक उन्नति का प्रासाद, संसार की सभ्य जातियों में भोग और स्वार्थ की बुनियाद पर खड़ा है। निर्बलों को बलवान् खारहा है। पशु जाति के दृष्टान्त से आज कल की सभ्यता अपने क्रूर कर्मों की रक्षा करना चाहती है। "जिस की लाठी उस की भैंस" यह सिद्धान्त पेश किया जाता है। "निर्बल पिस जाने के लिए हैं, जीने का अधिकार सबलों को ही है" यह आज कल की सभ्यता का मूल मन्त्र है। परन्तु क्या पशु सृष्टि के नियम मानवी सृष्टि पर भी लागू हो सकते हैं? आहार, निद्रा, भय और सृष्टि का बढ़ाना इन सब में मनुष्य और पशु, समान हैं। परन्तुः—

> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो।
> धर्मेण हीनः पशुभिस्समानः॥

मनुष्य में धर्म ही विशेष गुण है। मननशील होने से ही मनुष्य कहलाता है। इस लिए पशु जगत् के नियम इस पर लागू नहीं होते, यदि धर्म को तिलाञ्जली देदी जाय तो फिर नर और पशु में भेद क्या है?

संसार धर्म के उच्च शिखर से पशुत्व के निचले नरक में गिर रहा है, इसी लिए बलवान् निर्बलों को खाते जारहे हैं। पशु धोका नहीं देते, वह खुले बनों इस नियम पर अमल करते हैं कि छोटे पशु बड़े पशुओं का भोजन बनाए जाते

हैं। लेकिन मनुष्य मक्कारी करता है। भोग और स्वार्थ को धर्म की आड़ में ही सिद्ध करने का यत्न करता है। दूसरी जाति से लड़ाई, व्यापार को अपने हाथों में लेने के लिए ही की जाती है; परन्तु आड़ न्याय और सचाई की ली जाती है। मध्य काल में मज़हब, सम्प्रदाय, और रिलीजन के नाम पर यदि लहू की नदियां बहाई जाती थीं, तो आज न्याय, सचाई और असभ्य जातियों की रक्षा का ढोंग रच कर खून की नदियां बहाई जाती हैं। जहां मज़हब के नाम पर हज़ारों गले कटते थे, वहां सभ्यता और न्याय के नाम पर लाखों कटते और करोड़ों ही घर तबाह होते हुए दृष्टि गोचर होते हैं।

गत विश्वव्यापी युद्ध सभ्य जातियों की इसी मक्कारी का परिणाम था। उस युद्ध ने लाखों रांडें बैठा दीं, शायद दो करोड़ से अधिक देवियों को व्यभिचारिणी बना दिया, दो करोड़ के लग भग मज़दूरी पेशा लोगों को रोटी से भी लाचार कर दिया और कई राष्ट्रों को असहाय बना दिया। परन्तु कोई भी रोग बिना किसी उत्तम नतीजे के नहीं आता और न कोई ऐसी आंधी है जो कुछ अच्छी वस्तुओं का नाश करने के साथ २ ही बड़े सख्तारी रोगों को भी जड़ से उखाड़ कर न बहा ले जाय।

"बौल्शेविज्म" इसी प्रकार की बड़ी आंधी है। इस बौलशेविज्म का पिता यही विश्वव्यापी युद्ध था। एक शताब्दी से अधिक समय होगया था कि रूस की "ज़ार-शाही" ने करोड़ों को दास और अन्त्यज बना छोड़ा था।

पचासों यत्न उसके विरुद्ध किये गए, परन्तु 'ज़ारशाही' का बाल बांका न हुआ। उधर बालशेविज्म की ज्वाला उठी और एक लपेट में ही उसने 'ज़ारशाही' को भस्म कर दिया। जर्मनी में "कैसर शाही" से छूटने की किसको आशा थी? क्या कोई इन्कार कर सकता है कि 'कैसर शाही' की इतिश्री उस 'बाल्शैविज्म' की स्पिरिट ने ही नहीं की जिसने सारे संसार को दहला छोड़ा है? मध्य एशिया के दसों छोटे २ राष्ट्रों को एक-सत्तात्मक राज्य की गुलामी से छुड़ाकर इसी ने स्वतन्त्रता की सीधी सड़क पर चला दिया है। बौल्शेविज्म एक महती शक्ति है, जिसने अपराधी और निठुर राष्ट्रों को भस्म करने का ठेका लिया हुआ है। जिस ने इस के आगे सिर उठाया, उसी को इसने कुचल दिया। सचमुच बाल्शैविज्म परमेश्वर के न्याय-नियम का एक स्वाभाविक हथियार है, जिसका धर्म संसार से अन्याय और अधर्म का संशोधन करना है। पाप के घने जंगल के लिये बालशैविज्म जलती हुई आग है। इसका काम नाश करना है।

परन्तु जब आग से जंगल जला दिया गया तो फिर उसमें उत्तम बीज बोकर खेती उपजाने की ज़रूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान स्वार्थ और भोग के पापमय जंगल को बालशैविज्म की ज्वाला जलाकर राख कर देगी। परन्तु उस निराधार सूखे जंगल में जनता कहां सिर छिपायगी? वहां तो धूप, वर्षा और शीत से बचने लिये साधारण छाया भी नहीं रही, फिर मनुष्य कैसे जियंगे? क्या प्रकृति की समाप्ति के साथ मनुष्यों की भी समाप्ति न हो जायगी? इस प्रश्न का उत्तर बालशेविज्म के पास नहीं है। जंगल जब साफ़ होगया, तब चतुर माली का काम है कि भूमि को जोतकर

उत्तम बीज बोना आरम्भ करे, और जंगल को लहलहाती वाटिका में बदल दे।

वह माली वेद है, और उसकी क्रिया वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था है। एक प्रकार से सारी मनुष्य जनता को चार आश्रमों में विभक्त करना चाहिये, इसी में कल्याण है। वेद के उपदेश पर अमल करते हुए हमारे प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को चार भगों में विभक्त किया। साधारण पुरुष की आयु १०० वर्ष की कल्पना करके पहिले २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम के लिए सुरक्षित कर दिए, जिस से प्रत्येक बालक पूरी तय्यारी करके गृहस्थाश्रम रूपी युद्ध में सम्मिलित हो सके। दूसरे २५ वर्ष, गृहस्थाश्रम में दस से अधिक सन्तान उत्पन्न न करते हुए संसार का प्रबन्ध चलानेके लिए निश्चित कर दिए। तीसरे आश्रम में २५ वर्ष तक ब्रह्मप्राप्ति के साधन और संसार को उपदेश देने के लिए तय्यारी। और अन्तिम २५ वर्षों में निडर हो कर धर्म मार्ग में सर्वसाधारण को दृढ़ करने का अधिकार। इस नियम को पालन करने लिए और इस प्रकार भोग और स्वार्थ के जीवन से बचने के लिए वैदिक वर्णव्यवस्था की बुनियाद डाली गई।

वेद में वर्णव्यवस्था की मर्यादा एक अलंकार से समझाई गई है। मनुष्य समाज को एक पुरुष मान कर वेद बतलाता है कि उस विराट् पुरुष के —

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांᳫ शूद्रोऽजायत॥"

ब्राह्मण. शिर, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य उरू हैं और शूद्र पैर हैं। मनुष्य के शरीर के तीन जोड़ हैं। १ गले का, २. छाती से

नीचे का, ३. जंघा के नीचे गोड़े का। यह तीन जोड़ मनुष्य के शरीर को चार भागों में विभक्त करते हैं। गले के ऊपर का भाग सिर कहलाता है, इसी भाग में ज्ञानेन्द्रिय हैं। छठा प्राण और सातवीं एक ही कर्मेन्द्रिय, अर्थात् वाणी है। तृण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त और पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जितना भी ज्ञान है वह पांचों इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है और इसी भाग में वह कर्मेन्द्रिय है, जिस के द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरों तक पहुंचाया जा सकता है। फिर सारे शरीर के पालन-पोषण के लिए जिस भोजन की आवश्यकता होती है वह भी इसी भाग से पिसकर प्राण की सहायता से सारे शरीर में फैल जाता है परन्तु प्राण उस में से अपने लिए कुछ भी नहीं रखता। तब ब्राह्मण कौन है? वही जो मनुष्य समाज के अन्दर शिर का प्रतिनिधि है, अर्थात् जो पांचों ज्ञान इन्द्रियों द्वारा अपनी सारी शक्तियों से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है और वाणी द्वारा उस का ज्यों का त्यों उपदेश अन्य मनुष्यों के लिए कर देता है। इतना नहीं प्रत्युत सारे संसार के लिए अर्थ प्राप्ति के साधन बतलाता हुआ अपने लिए कुछ नहीं रखता। और न मानापमान के रोग से ग्रस्त होता है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना तो ब्राह्मण का काम है ही, परन्तु इसके साथ ही अर्थ के संग्रह करने से उसको सर्वथा अलग रहना चाहिए। ब्राह्मण की कोई जायदाद नहीं हो सकती, उसके पास धन जमा नहीं होना चाहिए, उसे अपने तथा अपने परिवार के भी निर्वाह की चिन्ता न होनी चाहिए। धर्मात्मा पुरुषों के दानपर ही उसकी

आजीविका का निर्भर होगा। मनुष्य समाज में ऐसे ही पुरुष शिक्षक (टीचर्स) धर्मप्रचारक (प्रीचर्स) और धर्म शास्त्र निर्माता अर्थात् स्मृतिकार (लैजिसलेटर) होने चाहियें। जहां उपर्युक्त तीनों काम करने वाले अपनी जुदी जायदाद और सम्पत्ति रखने वाले होंगे, वहां सच्ची शिक्षा और सच्चे धर्म का फैलना दुस्तर हो जायगा; अर्थी कहीं निष्पक्षपात होकर धर्म का प्रचार नहीं कर सकता। जैसे मनुष्य देह के शिर के स्वार्थी होने से सारा शरीर विकारी हो जाता है वैसे ही मनुष्य समाज में ब्राह्मण के स्वार्थी होने से सारा समाज अपने आदर्श से गिर जाता है। ब्राह्मण को केवल अपने कर्तव्य पालन पर ही सन्तोष होना चाहिए। और उसे किसी भी लालच से काम करने के प्रलोभन में फंसना न चाहिए।

अभी कल की बात है कि नए संशोधित राज नियमों के अनुसार जिन राज सभाओं का निर्माण हुआ है उन में से संयुक्त प्रान्तीय राजसभा के सभासदों ने गवर्नर से यह दरख्वास्त की थी कि सभा के अधिवेशन की ऐसी तिथियां रक्खी जांय जिस से वकील, जमींदार, व्यापारी आदि सभासदों को अपनी अर्थ प्राप्ति के लिए भी समय मिल सके। जिन सभ्यों के ऐसे विचार हैं उन के सामने जब कोई कानून बनाने का प्रश्न आवेगा तो क्या उनका ध्यान सब से पहिले अपनी जायदाद और सम्पत्ति की ओर नहीं जायगा? और क्या अपनी आर्थिक हानि लाभ का ख्याल वह सर्वथा छोड़ देंगे? यह तो इस समय की बात है, परन्तु जब पूरा स्वराज्य मिल गया तब भी यदि कानून बनाने वाले वर्तमान नियमों

पर ही चुने गये तो देश को अवस्थाओं में कोई बड़ा परि वर्तन नहीं आवेगा।

मनुष्य के शरीर में जो काम बाहू का है वही मनुष्य समाज में क्षत्रिय का होना चाहिए। शरीर के अन्दर से जो दुःख उठे अर्थात् शरीर पर जो अन्दर से आक्रमण हों उन का इलाज जहां बाहू द्वारा होता है, वहां बाहर से जो आक्रमण शरीर के किसी भाग पर हों उन से भी रक्षा करना बाहू का ही काम है। इसी प्रकार मनुष्य समाज के ऊपर, अन्दर, और बाहिर से होने वाले आक्रमणों का निवारण करना क्षत्रिय का धर्म है। जिस प्रकार बाहू शिर से शिक्षा पाकर और उसी की बतलाई विधि से राष्ट्र रूपी देह की रक्षा भी करता है। बाहू अन्दर गए भोजन में से केवल अपने आप को दृढ़ रखने के लिए ज़रा सा भाग रख लेता है, जमा कुछ नहीं रखता, इसी प्रकार क्षत्रिय भी अधिकार मात्र लिया करता है, और अपना सारा ही बल राष्ट्र की रक्षा में लगा देता है।

ऊरू स्थानीय वैश्य स्पष्ट ही हैं। शरीर के पालन के लिये जो भोजन अन्दर जाता है उसे ही खींच लेता है और फिर उस सारे भोजन को आमाशय में पकाकर उसका रस सारे शरीर में पहुंचाता है और फोक को बाहिर निकाल कर फेंक देता है। सारे शरीर के पालन के लिए सम्पत्ति उसी के पास जमा रहती है। यही कर्तव्य एक राष्ट्र में वैश्य का होना चाहिये। धनाढ्य भी वैश्य ही होने चाहिएँ, परन्तु वह धन उन के अपने स्वार्थ के लिए नहीं है। यदि ऊरू सारा भोजन अपने लिए ही रख छोड़े तो न केवल शरीर के अन्य विभागों को ही निर्बल कर देगा परन्तु अजीर्ण से अपना भी

नाश कर लेगा। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र में वैश्य स्वार्थी होकर अपने लिए धन जमा करें, तो जहां राष्ट्र के दूसरे भागों को वह निर्बल कर देंगे वहां जनता बौलशेविक बन कर खड़ी हो जाएगी और वैश्यों का सर्वनाश कर देगी। वैश्य का सारा धन और सम्पत्ति जनता के लिए अमानत समझनी चाहिए।

शूद्र पाद स्थानीय है। शिर बाहू और ऊरू के सब ही कामों में सहायक पैर ही होता है। इसी प्रकार राष्ट्र में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय के सब कामों को सिद्ध कराने वाला शूद्र ही साधन होगा। पांव यदि स्वस्थ नहीं हैं तो शिर, बाहू, ऊरु अपने कर्तव्य कर्म का पालन नहीं कर सकते। जिस प्रकार सब अङ्गों के स्वस्थ रहने पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है, उसी प्रकार राष्ट्र में सब वर्णों के अपने धर्म पर स्थित रहने पर ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

यह वैदिक-वर्णव्यवस्था है। जिस के पुनरुज्जीवित करने से बौलशैविज्म से सड़ा हुआ संसार फिर से हरा भरा बाग बन सकता है। इस वर्णव्यवस्था का पुनरुद्धार, जब तक न होगा तब तक विदेशियों के सर्वथा बाहिर निकल जाने से भी भारतवर्ष का वर्तमान दासता से उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु संसार में वर्णाश्रम धर्म फिर से स्थापन कौन कर सकता है?

आर्य समाज का ही अधिकार है

कि वह वैदिक-वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना करे। अधिकार ही क्यों, उसका कर्तव्य है।